ॐ

पञ्चीकरण

वार्तिक

विवरण

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय
ब्रह्मनिष्ठ आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्रीविभूषित
स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
वाराणसी

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला - ६५

ॐ

पञ्चीकरण

वार्तिक

विवरण

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्रीविभूषित
स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज
की हिन्दी एवं अंग्रेजी में
भूमिका से अलंकृत

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
डी. ४९/९ मिश्र पोखरा, वाराणसी-२२१०१०

प्रकाशक
श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
डी. ४९/९ मिश्र पोखरा, वाराणसी - २२१०१०

❑

प्रथम आवृत्ति : संवत् - २०६७
सन् - २०१०
शङ्कशब्द - १२२२

❑

❑

मूल्य : ३०=०० (तीस रुपये मात्र)

❑

मुद्रक
श्रीजी प्रिन्टर्स
जे. 12/5, नाटी इमली, वाराणसी
फोन : 0542-2201104, 3257329
ई-मेल : shrijeeprint@gmail.com
: shrijeeprint@sify.com

विषय सूची

ॐ

भूमिका

मुक्तिकोपनिषद् में 'माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये' कहकर माण्डूक्य उपनिषद् को ही सब उपनिषदों का मुकुटमणि बताया गया है। माण्डूक्य की विशेषता है ॐकार को प्रतीक बनाकर अवस्थात्रय के विवेचन से ब्रह्म का प्रतिपादन करना। चूंकि प्रत्येक मानव को जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का अनुभव होता है एवं यह प्रत्यभिज्ञा भी होती है कि मैं ही इन तीनों अवस्थाओं में था। अतः इस प्रकार का अनुभव होने से इसी पर आधारित ब्रह्म का प्रतिपादन करने से स्वभावतः अनुभवयुक्त ज्ञान उत्पन्न होता है। बृहदारण्यक, छान्दोग्य, प्रश्न इत्यादि उपनिषदों में भी तीनों अवस्थाओं का विवेचन आया है। एवं इन्द्र-प्रजापति विद्या तो इसी का विस्तार से रूपक बाँधकर वर्णन है। भगवान् गौडपादाचार्यों ने इसीलिये संक्षेप में समस्त वेदान्त का प्रतिपादन करने के लिये इसे ही चुना है। भगवान् शंकराचार्य ने भी सामान्य मुमुक्षुओं को और भी सरलता से समझ में आ सके, इसके लिये पंचीकरण का निर्माण किया जिस पर प्रस्थानत्रयी भाष्य के व्याख्याता आनन्द गिरि स्वामी ने भी व्याख्यान किया और आचार्य शंकर के साक्षात् शिष्य आचार्य सुरेश्वर ने वार्तिक का निर्माण किया। वार्तिक पर नारायणेन्द्र सरस्वती की टीका और आनन्दगिरि पर रामतीर्थ की टीका है जो पहले ही महेश अनुसंधान संस्थान (दक्षिणामूर्ति मठ) वाराणसी से प्रकाशित हो चुकी हैं। परन्तु उसमें हिन्दी अनुवाद के अभाव से असंस्कृतज्ञों को कुछ क्लेश का अनुभव होता था। यह देखकर श्री बिशन दास मेहता

ने इस महाकुम्भ के अवसर पर इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की। चूंकि पंचीकरण वार्तिक पर श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी महेश्वरानन्द गिरि जी महाराज, सूरतगिरि बंगले वालों ने लगभग साठ वर्ष पूर्व प्रामाणिक अनुवाद कर दिया था। अतः उसी अनुवाद को, अनुपलब्ध होने के कारण, उपलब्ध कराने का विचार करके सूरतगिरि बंगले के वर्तमान महामण्डलेश्वर स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी महाराज से उसके प्रकाशन का अधिकार प्राप्त करके उसे विधिवत् मुद्रित किया जा रहा है। स्वयं प्रकाश गिरि ने आनन्दगिरि की व्याख्या के अनुवाद का भार लिया एवं अत्यंत सफलता से अनुवाद को उपस्थित किया।

वेदान्त की प्रक्रिया में ब्रह्म में जगत् की उत्पत्तिरूप अध्यारोप और जगत् का ब्रह्म में भेद असम्भव करके अपह्नव रूपी अपवाद ब्रह्म की निष्कलता को स्थापित करने के लिये स्वीकृत मार्ग है। अतः इसी पद्धति का यहाँ भी उपयोग किया गया है। मूल पञ्चीकरण में दो प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं जिनमें से एक में अध्यारोप नहीं बताया गया। व्याख्याता स्वामी स्वयं प्रकाश गिरि ने इसकी प्रामाणिकता पर विचार किया है। साधकों की दृष्टि में तो चूंकि वार्तिक ने अध्यारोप को बताया है अतः मूल में हो या न हो, समझना आवश्यक है ही। इसी प्रकार पञ्चीकरण के प्रसंग में भी व्याख्याता ने ब्रह्मसूत्र के भामती प्रस्थान व विवरण प्रस्थान का भेद उपस्थापित करके आनन्द गिरि व्याख्या के अनुसार पञ्चीकरण को प्रामाणिक सिद्ध किया है। यह ठीक है कि मूर्तामूर्त भेद से आकाश वायु को अमूर्त माना गया है परन्तु अमूर्त होने पर भी उनका प्रत्यक्ष तो होता ही है क्योंकि वेदान्त में गुण-गुणी का अत्यंत भेद स्वीकास है नहीं और आकाश के गुण शब्द तथा वायु के गुण स्पर्श का प्रत्यक्ष तो सभी को स्वीकार्य है। मूल ग्रन्थ में इन्द्रियों से अर्थ की उपलब्धि को जाग्रत् बताया है और यदि आकश वायु के साथ इन्द्रियों का उपलभ्य-उपलंभक भाव सम्बंध नहीं

होगा तो आकश वायु का जाग्रत् में निवेश करना बड़ा कठिन हो जायेगा। इन सब कारणों से सभी वेदान्तियों ने इसे ही प्रामाणिक मत स्वीकार किया है।

वेदान्त शास्त्र में माया के दो प्रसिद्ध लक्षण हैं--सत् और असत् से विलक्षण एवं ज्ञान से हटाया जाने वाला। यहाँ दोनों ही लक्षणों का विचार आ गया है तथा इस सन्दर्भ में हिन्दी व्याख्या में सुस्पष्टरूप से प्रतिपादित किया है। हिंदी व्याख्याता ने जैन दर्शन से, जो अनेकान्तिकवाद का प्रतिपादक है, वेदान्त के अनिर्वचनीय वाद का बड़े ही सुन्दर ढंग से भेद प्रतिपादित किया है जो द्रष्टव्य है। इसी प्रकार कारण को कार्य का अवयव मानकर अज्ञान को अनिवार्य बताया है। वस्तुतः किसी भी चीज के परिणाम का मतलब उसके अवयवों में भिन्न प्रकार का अवस्थान होना ही है। यद्यपि दूध से जहाँ दही बनता है वहाँ लगता है कि अवयवों में परिवर्तन नहीं है तथापि यदि उसका भी सूक्ष्म निरीक्षण किया जाता है तो पाते हैं कि एक साथ ही सारा दूध एक जैसा दही नहीं हो जाता। वेदांत के प्रसिद्ध परिणामवाद के दृष्टान्तों में तो मिट्टी से बर्तन अथवा सोने से गहना लिया गया है जहाँ अवयव-संस्थानों का भेद स्पष्ट ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था के निरूपण में बुद्धि को कारण रूप से अवस्थित रहने का हेतु बताते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि यदि केवल विलयमात्र से अवस्थिति कहते तो सारे कार्यों का विलय होने से सुषुप्ति और प्रलय का भेद नहीं रह जाता। इसी प्रकार हिन्दी व्याख्यान में विस्तार से इस बात का प्रतिपादन किया है कि वाक्यार्थ ही वस्तुतः तात्पर्य हुआ करता है, न पद से वाक्य और पदार्थों से वाक्य बनता है, अतः ॐकार पूर्ण वाक्य होने से साक्षात् ब्रह्म का प्रतिपादक है।

यद्यपि सम्प्रदाय में चारों वेदों के चार महावाक्य प्रसिद्ध हैं एवं भगवान् भाष्यकारों ने चारों वेदों को सामवेद यजुर्वेद ऋग्वेद और अथर्ववेद के क्रम

से मूल ग्रन्थ में लिया है तथापि गिरि सम्प्रदाय अथर्ववेदीय होने से स्वामी आनन्द गिरि ने "अयमात्मा ब्रह्म" का ही विचार करके अन्य महावाक्यों में उसका अतिदेश मान लिया है। अन्यथा सामान्यतः वेदांत के ग्रन्थों में "तत्त्वमसि" को आधार बनाकर ही महावाक्यों का विचार करना ज्यादा प्रसिद्ध है। अन्तिम मङ्गल के श्लोक में आये हुए षड्विध लिङ्गों के हिन्दी व्याख्यान में जो मीमांसा से अनभिज्ञ हैं उनको उन छहों लिङ्गों को खोलकर बताना व्याख्याता का विशेष अनुग्रह है। हम आशा करते हैं कि स्वामी स्वयं प्रकाश गिरि इसी प्रकार निरंतर पाठकों का उपकार करते रहेंगे एवं अन्य ग्रन्थों को भी विचारपूर्वक उपस्थापित करते रहेंगे।

श्री बिशनदास मेहता को हमारा विशेष आशीर्वाद है कि इसी प्रकार निरन्तर विद्या के विस्तार में अपना सहयोग देते रहें। इस घोर कलिकाल में वेदान्त विचार ही साधकों के लिये सरल और उत्कृष्ट मार्ग है। पाठक इस ग्रन्थ से उपकृत होकर तत्त्वज्ञान में निष्ठा प्राप्त करें यही भगवान् उमारमण से प्रार्थना है।

सूरत गिरि बंगले के महामण्डलेश्वर स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी के प्रति हम वार्त्तिक के अनुवाद को उपलब्ध कराने का आभार मानते हैं और हमारा उनसे अनुरोध है कि महामण्डलेश्वर स्वामी महेश्वरानन्द गिरि जी महाराज के संक्षेपशारीरक की मधुसूदनी की हिन्दी व्याख्या का भी वे प्रकाशन करें।

मकर संक्रांति २०५४ — **भगवत्पादीय**

महेश नगर, ओयल (हि.प्र.) — **महेशानन्दगिरि**

PREFACE

(The Pañcīkaraṇa-related portion of the Preface of Prakaraṇadvādaśī
by
Śrī Svāmī Maheśānanda Giriji Mahārāja
Ācārya Mahāmaṇḍaleśvara)

Sureśvara, the other great disciple upon whose shoulders Śaṅkara placed the organisation of Southern India, is represented here by Pañcīkaraṇa Vārtika on the Pañcīkaraṇa of the Master. Sureśvara has named all his annotative works as Vārtika, for it is said that Śaṅkara himself ordered him to write a Vārtika on his voluminous commentary on the Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad, which is perhaps the first complete collection of Advaita teachings of a single Master the great Yājñavalkya. Yājñavalkya was a very early revolutionary revolting against the statism and ritualism of Vaiśampāyana. In Sanskṛta terminology a vārtika is a treatise which points out the mistakes of the original work, in addition to explaining and supplying the missing links. The very fact that Śaṅkara asked Sureśvara to do so, clearly indicates the dynamism of Vedānta attitude. It is evident that he did not want to inculcate the spirit of infallibility even in himself. This view of eternally opening up new vista of Reality as perfection, is the only view that can appeal to a rationalist age. The fact that Sureśvara was authorised to do so, indicates the great faith in his understanding of the tenets, that Śaṅkara had. It may be pointed out as an aside that Sureśvara, with all his humility and respect for his guru, pointed out some inconsistencies in his works, and also gave the amended consistent view as the corrected tenet, even as Śaṅkara himself had done with respect to Bādarāyaṇa and others. This tradition

is important even today. A thorough study of even the present work will reveal what is so beautifully put forward in a verse in the Vārtika. It is enunciated that any means that helps to view the Perfect is correct while a dogmatic view that hinders the attainment of the vision is wrong. We feel this catholicity is absent in the so-called religions of to-day. Religions are used more for hampering the dynamic development of man, rather than giving it a greater impetus. Truth, and even its means, are believed to have been encased in a book of knowledge or faith. It is forgotten that Physics or Chemistry is not the name of a theory or a text book, but it is to be read in the book of nature by its observation. Texts are only the records of how someone read and comprehended the book of Nature. They are certainly helpful, but a scientist has to read the real book, and reveal to himself the reality. Every scientist is bound to read somewhat differently than the others. Similarly, God has to be read in the revelations of one's own self and its nature both external and internal. God can not be read in a Bible or a Koran. They reveal to us the readings of the inner self as read by Chirst or Mohammad. They only help us to read ourselves. But each one of us will read in a slightly different way.

A very important point needs to be noted. Śaṅkara asked Sureśvara to write a Vārtika. Śaṅkara lived a very short span of thirty-two years. And yet he considered that time had changed enough to present an amended version of the fundamentals. It is one thing to have slight individual variations which are really personal, and quite another to present an amended public version, which implies perceptible change. We talk of the generation-gap to-day. We feel times are changing fast, hence it is difficult to keep cultural and other changes moribund, yet our general feeling is that it is all not very well for the society. Deep

within, we want to stop this change as much as possible. And here the established Churches and Maulawis try their best to hinder the onward flow. But the prophet of perfection is entirely of a different build. He wants his disciples to be the heralders of new thoughts, new revolutions, showing new paths, even before the general people become familiar enough with the old, to get bored. A Vedānta teacher does not follow revolutions, he creates them. It is not that he adjusts to changes in sciences and social outlooks, but he changes the presentation ahead of them. Hence, as a philosopher, he is not just in tune with the present, but in his understanding of the present, he comprehends, the direction of the movement, and is thus anticipating and presenting the future. This gospel truth was followed by all the great Śaṅkarites even up to the present day, though in all fairness we must admit that the recent past has been fumbling on this issue. One of the main reasons has been the lack of linguistic communication between the present, which actually is now centred in the Euro-American culture, and lacks presentation in the Indian languages. A minority of two percent English-knowing exploiters want to keep it to themselves. The past rooted in the Indian culture has been recorded in Sanskṛta. But as the saying goes 'the spirit willeth but the flesh faileth' so the spirit to guide is not lacking; but what lacks is the means to understand the fundamental dynamism of the modern age. In India we come to know of these changes in man when it has already become a past and gone through the seed stage to become a tree, to produce the next seed. Hence we are unable to give the lead. This at times gives a false notion that Vedānta is not willing to herald a total revolution.

Sureśvara's work presented here is his shortest treatise, a mere sixty-four verses in all. His 'magnum opus' contains

twelve thousand verses, which is half of Vālmīki's epic. If we remember that he is not writing a biography or a story, but solid, unadulterated, philosophy we will realise the volume of his output. But even in this small span his masterly presentation awes us. This work is dedicated to contemplation. All the hints to the means of realisation are given here. It is a complete guide to nididhyāsana, the development of will, which is one of the three approaches to Reality, the other two being śravaṇa, the acquiring of knowledge, and manana, actively participating with all our being in making the knowledge our own and developing it in the process, in the light of our own experience. It is Upadeśa-sāhasrī of Śrī Śaṅkara presented here that represents śravaṇa and Siddhānta-bindu the manana.

Pañcīkaraṇa

This is the manual of meditation for the Paramahaṁsa order. Even in the compendium of Upaniṣads produced by Adyar Library, Madras, its text is given as an Upaniṣad emphasising its importance. Most Upaniṣads prescribe Om as the best symbol most pleasing to Branman, both in its Saguṇa and Nirguṇa aspects. It is a universal symbol. Śaṅkara uses the so-called annihilative method of meditation.

The cosmic gross universe, the waking state and the waker in both are equated with 'A'. The subtle body in its cosmic and individual aspects, the dream state, and the dreamer are equated with 'U'. The cause of both is nescience which is called the causal body. Along with the state of deep sleep and the sleeper, it is equated with 'M'. A merges with U, U with M, M with Om, which is me. Thus all is annihilated, and then identified with the self. I am the witness, pure consciousness, eternally pure, wise, free, true, supreme bliss, non-dual, the innermost being. Brahman is to be meditated thus, with all one's being, until one

attains samādhi. This is to be buffered by constantly thinking of the Upaniṣads, which proclaim the identity of the self with Śiva. Intellectually one should reason, and logically certify the truth. Thus one attains the supreme realisation.

This is a very small work. Sureśvara's comments are further elucidated by Nārāyaṇānandendra Sarasvatī. The elucidator was a great scholar, and his exposition is quite exhuastive. It is surprising that though Ānanda Giri wrote a separate independent annotation on the work, he left the Vārtika untouched. Rāma Tīrtha, a very famous annotator of many Vedānta works, has commentated upon the Vivaraṇa, thus making it a complete work by itself. We have included both of these, and we are sure it will help to gain a working knowledge of the meditative life of a monk of Śaṅkara's order. Māṇḍūkya was the treatise, used by the monks of the non-dual Paramahaṁsa order, before these helps were available.

Sureśvara says that the aspirants for liberation must use this text for concentrating the mind. Nārāyaṇa makes it obligatory to be a monk for practising it. This seems to be an effect of later Smṛtis, where the use of Om was restricted to monks only. But Sureśvara does not suggest it in any way. Giri suggests renunciation of action, but does not use the word monk, making it mean either sannyāsa, or detached action. Gītā has defined sannyāsa in both the alternative ways. Nārāyaṇa gives detailed reasons why Om is preferable to other words or even the great sentences. It is short, and obligatory to be used before any recitation of the Veda. Thus its importance is well established. Even if repeated without concentration, it destroys sins, and helps mind-concentration. There seems to be a very specific reason not mentioned in these texts. Om in a very early age became the accepted symbol of the Absolute in the

philosophical schools, for it was a very vague symbol, and a common one for all Vedas. Later Sāṁkhya, Yoga, Bauddha, Jainas all accepted it as such. It is not surprising that later on Brahmos, Ārya Samājīs, Sikhs, etc. also accepted it. The Vaiṣṇava schools, on the whole not belonging to the philosophical schools, chose Rāma or Kṛṣṇa as the term for the Supreme. Thus Om represents the common Hindu philosophical symbol for the God-head. This perhaps was the very reason why Vaiṣṇavas rejected it for God. As for the the Śaivas, Om is but a special symbolic way of writing the two dimensional cross section of the Śivaliṅga and jalaharī. Thus they stuck to it, even for the religious symbology of God. It is also well known that all the Vaidika philosophers followed Śaivism as their religion. And this is true even of the so-called atheistic schools, like the ritualists. Buddhists and Jainas were also offshoots of the different branches of the philosophical schools. The main difference between them being, that whereas the philosophical schools did neither contradict vaidic ritualism, nor tried to create new ritualism; the avaidika schools both contradicted vaidic rituals, and created new ones. That both did not consider rituals as the real religion was a common bond between them all. Vaiṣṇava Ācāryas later on accepted Vedānta as their philosophical school in the same spirit. By then, the Purāṇas had accepted the new rituals of Pāñcarātras as efficacious. Thus we see this common bond was further strengthened by Śaṅkara. This was another great contribution of Saṅkara in bringing the harmony of Hinduism in focus.

ॐ

प्रकाशकीय

परमहंस संन्यास सम्प्रदाय में अध्यात्मज्ञाननित्यता के लिए अनिवार्य अवलम्ब आचार्य द्वारा रचित 'पञ्चीकरण' प्रकरण एवं उसपर श्रीसुरेश्वरकृत वार्त्तिक है। इनपर विभिन्न व्याख्यान भी उपलब्ध हैं तथापि आचार्य आनन्दगिरिकृत विवरण समधिक सम्पूर्ण एवं विज्ञेय-पदार्थों का संग्राहक है। पञ्चीकरण-अनुसार चिन्तन के लिए औपनिषद प्रक्रिया स्पष्ट और बुद्धिस्थ रहनी आवश्यक है अत: विवरण के आवर्त्तन से संस्कृत चित्त द्वारा सहजता से इस ध्यान का अनुष्ठान सम्भव और सार्थक होता है ऐसा साधकों का अनुभव रहा है। यद्यपि साक्षात्कार के लिए श्रवण प्रधान है तथापि समाहित होने के लिए एवं ज्ञाननिष्ठा पाने के लिए ध्यान अनिवार्य स्वीकारा जाने से उसकी प्रक्रिया की जानकारी देने वाले इस आचार्य-प्रणीत प्रकरण की असीम एवं अक्षय महिमा है।

अनेक संस्कृत टीकाओं समेत पंचीकरण स्वतन्त्ररूप से एवं 'प्रकरणद्वादशी' के अन्तर्गत पूर्व में प्रकाशित किया गया था, तदनन्तर संवत् २०५५ में वार्तिक और विवरण के अनुवाद सहित इसे परमाराध्य **श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज** की आज्ञानुसार श्रीबिशनदास मेहता जी ने प्रकाशित कर वितरित किया था। अनेक वर्षों से यह संस्करण भी सुलभ नहीं रहने से अब श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन, अपनी ग्रन्थावली में इसे स्थान देकर सर्वसुलभ कर रहा है। प्रकरणद्वादशी में परमपूज्य आचार्यचरण द्वारा लिखित अंग्रेजी भूमिका में से पंचीकरण-सम्बद्ध प्रसंग भी इस संस्करण में जोड़ दिया गया है।

ॐ

।।श्रीदक्षिणामूर्त्तिर्विजयतेतराम्।।

श्रीमच्छङ्कराचार्यपूज्यपादविरचितम्

पञ्चीकरणम्

ॐ। पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च सर्वं विराड् इत्युच्यते। एतत् स्थूलशरीरम् आत्मनः। इन्द्रियैरर्थोपलब्धिः जागरितम्। तदुभयाभिमानी आत्मा विश्वः। एतत् त्रयम् अकारः।

अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि पञ्च तन्मात्राणि तत्कार्यं च पञ्च प्राणाः, दशेन्द्रियाणि, मनो, बुद्धिश्चेति सप्तदशकं लिङ्गं भौतिकं हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। एतत् सूक्ष्मशरीरमात्मनः। करणेषु उपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्न इत्युच्यते। तदुभयाभिमानी आत्मा तैजसः। एतत् त्रयम् उकारः।

शरीरद्वयकारणम् आत्माऽज्ञानं साभासम् अव्याकृतम् इत्युच्यते। एतत् कारणशरीरमात्मनः। तच्च न सत्, नासत्, नापि सदसत्, न भिन्नं, नाभिन्नं, नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चित्, न निरवयवं, न सावयवं, नोभयम्। किन्तु ? केवलब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यम्। सर्वप्रकारज्ञानोपसंहारे बुद्धेः कारणात्मना अवस्थानं सुषुप्तिः। तदुभयाभिमानी आत्मा प्राज्ञः। एतत् त्रयं मकारः।

अकार उकारे, उकारो मकारे, मकार ओङ्कारे, ओङ्कारोऽहम्येव। अहमात्मा साक्षी केवलः चिन्मात्रस्वरूपः; नाऽज्ञानं, नापि तत्कार्यम्। किन्तु ? नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं परमानन्दाऽद्वयं प्रत्यग्भूतचैतन्यं ब्रह्मैव अहमस्मि इति अभेदेन अवस्थानं समाधिः। 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', इत्यादिश्रुतिभ्यः।

इति पञ्चीकरणं भवति।

ॐ

ॐ

श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं

पञ्चीकरणम्

श्रीमत्सुरेश्वराचार्यविरचित-

वार्तिकसमेतम्

हिन्दीभाषानुवादयुक्तम्

(पं.) अथातः परमहंसानां समाधिविधिं व्याख्यास्यामः।

अब हम परमहंस-संन्यासियों के लिये समाधि-विधिका व्याख्यान करते हैं।

(वा.) ॐकारः सर्ववेदानां सारस्तत्त्वप्रकाशकः।
तेन चित्तसमाधानं मुमुक्षूणां प्रकाश्यते १।।

ॐकार सर्ववेदोंका सार है, और ब्रह्म-तत्त्वका प्रकाशक है। अतः ॐमन्त्रके अवलम्बनसे ही मुमुक्षुओं का चित्त समाहित होता है, इसलिये ॐकारका रहस्य प्रकट किया जाता है।

(पं.) सच्छब्दवाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म। ब्रह्मणोऽव्यक्तं। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहंकारः। अहंकारात्पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत्।

मायाविशिष्ट-ब्रह्म 'सत्' शब्दसे कहा जाता है। उस ब्रह्मसे अव्यक्त, अव्यक्तसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकार से शब्दादिपञ्चतन्मात्रा, तन्मात्राओंसे पंच महाभूत, और पंचमहाभूतोंसे समस्त जगत् उत्पन्न हुआ।

(वा.) आसीदेकं परं ब्रह्म नित्यमुक्तमविक्रियम्।
तत्स्वमायासमावेशाद्बीजमव्याकृतात्मकम् ।। २।।

प्रथम, नित्यमुक्त, निर्विकार, एकमात्र परब्रह्म ही था। उसने अपनी माया शक्ति से जगत् का बीज, अव्याकृत रचा।

तस्मादाकाशमुत्पन्नं शब्दतन्मात्ररूपकम्।
स्पर्शात्मकस्ततो वायुस्तेजो रूपात्मकं ततः।। ३।।

उस अव्याकृतसे शब्दतन्मात्रारूप आकाश उत्पन्न हुआ, और आकाशसे स्पर्श-गुणवाला वायु, एवं वायु से रूप-गुणवाला तेज उत्पन्न हुआ।

आपो रसात्मिकास्तस्मात्ताभ्यो गन्धात्मिका मही।
शब्दैकगुणमाकाशं शब्दस्पर्शगुणो मरुत् ।। ४।।

तेजसे रसगुणवाला जल, और जल से गन्धगुणवाली पृथिवी उत्पन्न हुई। आकाश एकमात्र शब्दगुण वाला है, एवं वायु शब्द और स्पर्श दो गुणवाला है।

शब्दस्पर्शरूपगुणं त्रिगुणं[1] तेज उच्यते।
शब्दस्पर्शरूपरसगुणैरापश्चतुर्गुणाः ।। ५।।

तेज, शब्द स्पर्श और रूप ये तीन गुण वाला है, तथा जल, शब्द स्पर्श रूप और रस ये चार गुणवाला है।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः पञ्चगुणा मही।
तेभ्यः समभवत्सूत्रं लिंगं सर्वात्मकं महत् ।। ६।।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच गुणों से पृथिवी पाँच गुणवाली है। और उन शब्दादिपंचतन्मात्रारूप पञ्चसूक्ष्मभूतों से सूत्रात्मा महालिङ्गरूप हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ।

ततः स्थूलानि भूतानि, पञ्च तेभ्यो विराडभूत्।
पञ्चीकृतानि भूतानि, स्थूलानीत्युच्यते बुधैः ।। ७।।

उस सूत्रात्मासे पृथिव्यादि पाँच स्थूल भूत उत्पन्न हुए। उन स्थूल भूतों से विराट् उत्पन्न हुआ। पञ्चीकृत पंचमहाभूतों को ही विद्वान् लोग स्थूल-भूत कहते हैं।

(पं.) पञ्चानां भूतानामेकैकं द्विधा विभज्य स्वार्द्धभागं विहायार्द्धभागं चतुर्धा विभज्येतरेषु योजिते पञ्चीकरणं मायारूपदर्शनमध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।

पाँच भूतोंमें से एक-एक भूतके दो-दो समान भाग करके, उनमेंसे एक भागको छोड़कर द्वितीय भागके चार-चार समान भाग करके इन चारों भागोंको, अपनेको छोड़ कर अन्य भूतोंके साथ जोड़ देने से पंचीकरण होता है, यही मायाका कार्यरूप से स्पष्ट दर्शन है। अध्यारोप से ब्रह्म सप्रपंच और अपवादसे निष्प्रपंच होता है, अथवा अध्यारोप और अपवाद से ही निष्प्रपंच

---

१. °गुणैरिति पाठान्तरम्।

ब्रह्म का वर्णन हो सकता है। । (पारमार्थिक वस्तुमें मिथ्याभूत-अवस्तुकी कल्पनाका नाम अध्यारोप है। और अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञानसे कल्पित-आरोपका बाध करना उसे अपवाद कहते हैं।)

(वा.) पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद्द्विधा।
एकैकं भागमादाय चतुर्धा विभजेत्पुनः ।। ८।।

पृथिव्यादि पाँच भूतोंमें से प्रत्येक भूत के दो-दो समान भाग किए जाएँ पश्चात् उन दो-दो भागोंमें एक-एक भाग के चार-चार भाग करने चाहिये।

एकैकं भागमेकस्मिन् भूते संवेशयेत्क्रमात्।
ततश्चाकाशभूतस्य भागाः पञ्च भवन्ति हि।। ९।।

उन चार-चार-भागों में से एक-एक भागको क्रमशः एक-एक भूतमें जोड़ देवे, इस प्रकार जोड़नेसे आकाश में पाँच भाग होते हैं, अर्थात् एक बड़ा भाग तो अपना है—जो आठ आनेके समान है, और चार-भाग छोटे-छोटे अन्य भूतोंके आये है, जो भाग दो-दो आनेके समान हैं।

वाय्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमादिशेत्।
पञ्चीकरणमेतत्स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः ।। १०।।

इस प्रकार वायु आदिके चार-चार भाग अपनेको छोड़कर वायु आदिमें मिला देवे, ऐसा करनेसे आकाशकी भाँति वायु आदिमें भी पाँच भाग होंगे, एक बड़ा भाग अपना और चार भाग अन्य भूतोंसे आये हुए, इसी का नाम पञ्चीकरण है, ऐसा तत्त्वज्ञानीजन कहते हैं।

(पं.) ॐपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं सर्वं विराडित्युच्यते। एतत्स्थूलशरीरमात्मनः।

ये पञ्चीकृत पञ्चस्थूल भूत तथा उनका कार्य, गिरि नद्यादि जगत् 'विराट्' कहा जाता है। यही परब्रह्म आत्माका समष्टि-स्थूलशरीर है।

(वा.) पञ्चीकृतानि भूतानि तत्कार्यं च विराड् भवेत्।
स्थूलं शरीरमेतत्स्यादशरीरस्य चात्मनः ।।११।।

पञ्चीकृत भूत तथा उसका समस्त कार्य ही 'विराट्' रूप है। यही वस्तुतः शरीररहित ब्रह्मात्माका उपाधि से स्थूल-शरीर कहा जाता है।

अधिदैवतमध्यात्ममधिभूतमिति त्रिधा।
एकं ब्रह्म विभागेन भ्रमाद्भाति न तत्त्वतः ।।१२।।

एक ही ब्रह्म भ्रान्तिवश अधिदैव, अध्यात्म, अधिभूत ये तीन विभागोंसे प्रतीत होता है, वास्तवमें तो वह अविभक्त है, उसके पारमार्थिक भाग नहीं हो सकते।

(पं.) इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्। एतदुभयाभिमान्यात्मा विश्वः। एतत् त्रयमकारः।

जहाँ चक्षुरादि-इन्द्रियोंसे शब्दादिविषयों का स्पष्ट ज्ञान होता है, उसे जाग्रत्-अवस्था कहते हैं। विराट् (समष्टि-स्थूल) अवस्था और जाग्रत् (व्यष्टि-स्थूल) अवस्था इन दोनों के अभिमानी विराट् और विश्व आत्मा हैं। और स्थूल व्यष्टि-समष्टि-उपाधि, विश्वात्मा और विराट् भगवान् इन तीनों को ॐकार की प्रथम मात्रा 'अकार' रूप मानना चाहिए।

(वा.) इन्द्रियैरर्थविज्ञानं देवतानुग्रहान्वितैः।
शब्दादिविषयं ज्ञानं तज्जागरितमुच्यते ।।१३।।

देवताओं के अनुग्रहसे युक्त इन्द्रियोंसे जहाँ शब्दादिविषयोंका ज्ञान होता है, वह जाग्रत् कहा जाता है।

श्रोत्रमध्यात्ममित्युक्तं श्रोतव्यं शब्दलक्षणम्।
अधिभूतं तदित्युक्तं दिशस्तत्राधिदैवतम् ।।१४।।

श्रोत्र (कान) अध्यात्म है, श्रोतव्य (सुनने योग्य) शब्द अधिभूत है, और

दिशाएँ अधिदेव हैं, अर्थात् श्रोत्रकी अधिष्ठातृ देवता हैं।

त्वगध्यात्ममिति प्रोक्तं स्प्रष्टव्यं स्पर्शलक्षणम्।
अधिभूतं तदित्युक्तं वायुस्तत्राधिदैवतम्।।१५।।

त्वक् (चमड़ी) अध्यात्म है, स्प्रष्टव्य (स्पर्श करने योग्य) स्पर्श अधिभूत है, और वायु अधिदेव है अर्थात् त्वक्की अधिष्ठातृ देवता है।

चक्षुरध्यात्ममित्युक्तं द्रष्टव्यं रूपलक्षणम्।
अधिभूतं तदित्युक्तमादित्योऽत्राधिदैवतम् ।।१६।।

चक्षु (आँख) अध्यात्म है, द्रष्टव्य (देखने योग्य) रूप अधिभूत है, और आदित्य (सूर्य) अधिदेव है अर्थात् चक्षुका अधिष्ठातृ देवता है।

जिह्वाऽध्यात्मं तथा स्वाद्यमधिभूतं रसात्मकम्।
वरुणो देवता तत्र जिह्वायामधिदैवतम्।।१७।।

जिह्वा अध्यात्म है, स्वाद्य (चखने योग्य) रस अधिभूत है और वरुण अधिदेव है, अर्थात् जिह्वाकी अधिष्ठातृ देवता है।

घ्राणमध्यात्ममित्युक्तं घ्रातव्यं गन्धलक्षणम्।
अधिभूतं तदित्युक्तमश्विनावधिदैवतम्[1] ।।१८।।

घ्राण (नासिका) अध्यात्म है, घ्रातव्य (सूँघने योग्य) गन्ध अधिभूत है और अश्विनीकुमार अधिदेव हैं अर्थात् घ्राण के अधिष्टातृ देवता हैं।

वागध्यात्ममिति प्रोक्तं वक्तव्यं शब्दलक्षणम्।
अधिभूतं तदित्युक्तमग्निस्तत्राधिदैवतम् ।।१९।।

वाक् (वाणी) अध्यात्म है वक्तव्य (बोलने योग्य) शब्द अधिभूत है, अग्नि अधिदैव है, अर्थात् वाणी की अधिष्ठातृदेवता है।

---

१. पृथिव्यत्रेति पाठान्तरम्।

हस्तावध्यात्ममित्युक्तमादातव्यं च यद्भवेत्।
अधिभूतं तदित्युक्तमिन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ।।२०।।

हस्त (हाथ) अध्यात्म है, आदातव्य (ग्रहण करने योग्य) अधिभूत है, और इन्द्र अधिदैव है, अर्थात् हस्तके अधिष्ठातृ देवता हैं।

पादावध्यात्ममित्युक्तं गन्तव्यं तत्र यद्भवेत्।
अधिभूतं तदित्युक्तं विष्णुस्तत्राधिदैवतम्।।२१।।

पाद (पैर) अध्यात्म है, गन्तव्य अधिभूत है, और विष्णु अधिदैव है, अर्थात् पादका अधिष्ठातृ-देवता है।

पायुरिन्द्रियमध्यात्मं विसर्गस्तत्र यो भवेत्।
अधिभूतं तदित्युक्तं मृत्युस्तत्राधिदैवतम्।।२२।।

पायु (गुदा) अध्यात्म है विसर्ग (मल त्याग) अधिभूत है, और मृत्यु अधिदैव है अर्थात् पायुका अधिष्ठातृ-देवता है।

उपस्थेन्द्रियमध्यात्मं स्त्र्याद्यानन्दस्य कारणम्।
अधिभूतं तदित्युक्तमधिदैवं प्रजापतिः ।।२३।।

उपस्थ (गुह्येन्द्रिय) अध्यात्म है, आनन्द का कारण अधिभूत है, और प्रजापति अधिदैव है अर्थात् उपस्थका अधिष्ठातृ-देवता है।

मनोऽध्यात्ममिति प्रोक्तं मन्तव्यं तत्र यद्भवेत्।
अधिभूतं तदित्युक्तं चन्द्रस्तत्राधिदैवतम्।।२४।।

मन अध्यात्म है, मन्तव्य (मनन करने योग्य) विचार अधिभूत है, चन्द्रमा अधिदैव है अर्थात् मनका अधिष्ठातृ-देवता है।

बुद्धिरध्यात्ममित्युक्तं बोद्धव्यं तत्र यद्भवेत्।
अधिभूतं तदित्युक्तमधिदैवं बृहस्पतिः ।।२५।।

बुद्धि अध्यात्म है, बोद्धव्य (जानने योग्य) अधिभूत है और बृहस्पति अधिदैव है, अर्थात् बुद्धिका अधिष्ठातृ-देवता है।

अहंकारस्तथाऽध्यात्ममहंकर्तव्यमेव यत्।
अधिभूतं तदित्युक्तं रुद्रस्तत्राधिदैवतम्।।२६।।

अहंकार अध्यात्म है, अहंकर्तव्य अधिभूत है, और रुद्र अधिदैव है अर्थात् अहंकार का अधिष्ठातृ-देवता है।

चित्तमध्यात्ममित्युक्तं चेतव्यं तत्र यद्भवेत्।
अधिभूतं तदित्युक्तं हरिस्तत्राधिदैवतम्।।२७।।

चित्त अध्यात्म है, चेतव्य (चिन्तन करने योग्य) अधिभूत है और हरि अधिदैव हैं अर्थात् चित्त के अधिष्ठातृ देवता हैं।

तमोऽध्यात्ममिति प्रोक्तं विकारस्तत्र यो भवेत्।
अधिभूतं तदित्युक्तमीश्वरोऽत्राधिदैवतम् ।।२८।।

तम (अज्ञान) अध्यात्म है, उसका कामादि विकार अधिभूत है, और ईश्वर अधिदैव है अर्थात् तमका अधिष्ठातृ-देवता है।

बाह्यान्तःकरणैरेवं देवतानुग्रहान्वितैः।
स्वं स्वं च विषयज्ञानं तज्जागरितमुच्यते ।।२९।।

इस प्रकार उन-उन देवताओंके अनुग्रहसे युक्त बाह्येन्द्रियोंसे तथा अन्तःकरणसे जो अपने-अपने विषयों का ज्ञान होता है, उसे जाग्रत्-अवस्था कहते हैं।

येयं जागरितावस्था शरीरं करणाश्रयम्।
यस्तयोरभिमानी स्याद्विश्व इत्यभिधीयते।।३०।।
विश्वं वैराजरूपेण पश्येद् भेदनिवृत्तये।।

जो यह जाग्रत्-अवस्था है, तथा इन्द्रियों का आश्रय शरीर है इन दोनोंका अभिमानी विश्वात्मा है उस विश्वात्माको विराट्रूपसे भेदकी निवृत्तिके लिये अभिन्न देखना चाहिये।

(पं.) अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि पञ्चतन्मात्राणि तत्कार्यं च पंचप्राणाः दशेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशकं लिङ्गं भौतिकं हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। एतत्सूक्ष्मशरीरमात्मनः। करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयःस्वप्न इत्युच्यते। तदुभयाभिमान्यात्मा तैजसः। एतत्त्रयमुकारः।

अपञ्चीकृत-पञ्चमहाभूत ही शब्दादिपञ्चतन्मात्राएँ हैं, उनका कार्य पञ्च (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान) प्राण, दश इन्द्रिय (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय) मन और बुद्धि ये सत्तरह तत्त्वका समुदाय लिङ्ग शरीर है। समष्टि-लिंग शरीरके अभिमानीको हिरण्यगर्भ कहते हैं। यही भौतिक लिङ्ग आत्मा का सूक्ष्म शरीर है। चक्षुरादि इन्द्रियोंके लीन हो जाने पर जाग्रत्के अनुभवके संस्कारोंसे विषयों का भान होना, उसे स्वप्न अवस्था कहते हैं। उसमें प्रतीत होने वाले ग्राह्य और ग्राहक इन दोनोंके अभिमानी आत्माका नाम तैजस है। सूक्ष्म व्यष्टि-समष्टि उपाधि, तैजसात्मा और हिरण्यगर्भ इन तीनोंको ॐकार की द्वितीय मात्रा 'उकार' रूप मानना चाहिये।

(वा.) ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।।३१।।

पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं और पाँच कर्मेन्द्रिय हैं।

श्रोत्रत्वङ्नयनघ्राणजिह्वा धीन्द्रियपञ्चकम्।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियपञ्चकम्।।३२।।

श्रोत्र, त्वक्, नयन, घ्राण और जिह्वा ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं, और वाक् पाणि (हाथ), पाद, पायु, और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं।

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्।
संकल्पाख्यं मनोरूपं बुद्धिर्निश्चयरूपिणी ।।३३।।

मन, बुद्धि अहंकार और चित्त ये चार अन्तःकरण हैं। संकल्पवृत्तिको मन, और निश्चयवृत्तिको बुद्धि कहते हैं।

अभिमानात्मकस्तद्वदहंकारःप्रकीर्तितः।
अनुसंधानरूपं च चित्तमित्यभिधीयते।।३४।।

अभिमान वृत्तिको अहंकार तथा अनुसंधान (चिंतन) वृत्तिको चित्त कहते हैं।

प्राणोऽपानस्तथा व्यान उदानाख्यस्तथैव च।
समानश्चेति पञ्चैताः कीर्तिताः प्राणवृत्तयः।।३५।।

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँच प्राणकी वृत्तियाँ हैं।

खंवाय्वग्न्यम्बुक्षितयो भूतसूक्ष्माणि पञ्च च।
अविद्याकामकर्माणि लिंगं पुर्यष्टकं विदुः ।।३६।।

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाँच सूक्ष्मभूत, अविद्या, काम तथा कर्म इन आठ-तत्त्वोंको पुर्यष्टक लिङ्ग शरीर कहते हैं।

एतत्सूक्ष्मशरीरं स्यान्मायिकं प्रत्यगात्मनः।
करणोपरमे जाग्रत्संस्कारोत्थप्रबोधवत् ।। ३७।।

यह प्रत्यगात्माका मायिक सूक्ष्म शरीर है, जिसमें इन्द्रियोंके लीन होने पर जाग्रत्-संस्कारोंसे विषयोंका भान होता है।

ग्राह्यग्राहकरूपेण स्फुरणं स्वप्न उच्यते।
अभिमानी तयोर्यस्तु तैजसः परिकीर्तितः ।।३८।।
हिरण्यगर्भरूपेण तैजसं चिन्तयेद् बुधः।।

ग्राह्य और ग्राहकके रूपसे जो प्रतीति होती है उसे स्वप्न कहते हैं, स्वाप्निक ग्राह्य और ग्राहक का जो अभिमानी है, वह तैजस आत्मा कहा जाता है, उसका विचारशील विद्वान् हिरण्यगर्भके साथ अभिन्न रूपसे चिंतन करे।

(पं.) शरीरद्वयकारणमात्माज्ञानं साभासमव्याकृतमित्युच्यते। एतत्कारणशरीरमात्मनः। तच्च न सत्, नासत्। नापि सदसत्। न भिन्नं नाभिन्नम्। नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चित्। न निरवयवं, न सावयवं। नोभयम्। किन्तु केवलब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यम्।

स्थूल और सूक्ष्म इन दो शरीरोंका कारण आभास सहित आत्माका अज्ञान है, उसे अव्याकृत कहते हैं। वह कारणशरीररूप अज्ञान, ज्ञानसे निवर्त्य होनेके कारण सत् नहीं है, प्रतीत होनेके कारण असत् भी नहीं है, और विरोध होनेके कारण सत् और असत् उभय रूप भी नहीं है। वह ब्रह्मसे, मिथ्या होने के कारण भिन्न और अभिन्न तथा उभयरूप भी नहीं है। न वह निरवयव है, न सावयव है न उभयरूप है, किन्तु केवल ब्रह्म और आत्माके अभेद-ज्ञानसे निवर्त्य है।

(वा.) चैतन्याभासखचितं शरीरद्वयकारणम् ।।३९।।
आत्माज्ञानं तदव्यक्तमव्याकृतमितीर्यते ।
न सन्नासन्न सदसद्भिन्नाभिन्नं न चोभयम्[1] ।।४०।।
न सभागं न निर्भागं न चाप्युभयरूपकम् ।
ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानहेयं मिथ्यात्वकारणात् ।।४१।।

चैतन्यके प्रतिबिम्बसे युक्त, शरीरद्वयका कारण जो आत्माका अज्ञान है, उसे अव्यक्त तथा अव्याकृत कहते हैं। वह न सत् है न असत् है, न सत् असत् उभयरूप है, न भिन्न है, न अभिन्न है, न भिन्न अभिन्न उभयरूप

---

१. आत्मन इति पाठान्तरम्।

है, तथा वह न सभाग है, न निर्भाग है, न उभयरूप है, किन्तु वह अनिर्वचनीय है, मिथ्या होने के कारण ब्रह्म और आत्मा के अभेदज्ञानसे निवर्त्य है।

(पं.) सर्वप्रकारज्ञानोपसंहारे बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिः। तदुभयाभिमान्यात्मा प्राज्ञः। एतत्त्रयं मकारः।

अन्तःकरणकी सर्वप्रकारकी वृत्तियोंके लीन हो जाने पर जो बुद्धिकी कारणरूपसे स्थिति होती है, उसे सुषुप्ति कहते हैं। अव्याकृत (अज्ञान) और सुषुप्ति अवस्था इन दोनोंका अभिमानी आत्मा प्राज्ञ है। और अज्ञान, सुषुप्ति तथा तदधिष्ठाता चेतन (प्राज्ञ एवं ईश्वर) ये तीन ॐकार की तृतीय मात्रा 'मकार' रूप हैं।

(वा.) ज्ञानानामुपसंहारो[1] बुद्धेःकारणतास्थितिः।
वटबीजे वटस्येव सुषुप्तिरभिधीयते ।४२।।

वृत्तियोंका लय होना, तथा जैसे वट-बीजमें वट रहता है, तद्वत् जब बुद्धि स्वकारण अज्ञानमें तद्रूप होकर स्थित होती है, तब वह सुषुप्ति कही जाती है।

अभिमानी तयोर्यस्तु प्राज्ञ इत्यभिधीयते।
जगत्कारणरूपेण प्राज्ञात्मानं विचिन्तयेत् ।।४३।।

अज्ञान और सुषुप्ति इन दोनों का अभिमानी 'प्राज्ञ' कहाता है। अतः उस प्राज्ञात्माका जगत्का कारण-ईश्वररूपसे अभिन्न चिन्तन करना चाहिये।

(पं.) अकार उकारे, उकारो मकारे, मकार ॐकारे, ॐकारोऽहम्येव।

अकारको, उकारमें, उकारको मकारमें, तथा मकारको ॐकारमें लीन करे। तथा ॐकारको 'अहं' में—जो तीन शरीरसे पृथक् साक्षी आत्मा है—उसमें लीन करे।

---

१. संहार इति पाठान्तरम्।

(वा.) विश्वतैजससौषुप्तविराट्सूत्राक्षरात्मभिः ।
विभिन्नमिव संमोहादेकतत्त्वं चिदात्मकम् । ।४४ । ।

'विश्व' (व्यष्टि-स्थूल देहका अभिमानी आत्मा) 'तैजस' (व्यष्टिसूक्ष्म-शरीरका अभिमानी आत्मा) 'प्राज्ञ' (व्यष्टि-कारण-शरीर का अभिमानी) 'विराट्' (समष्टि-स्थूल ब्रह्मांडका अभिमानी आत्मा) 'सूत्रात्मा' (समष्टि-सूक्ष्मब्रह्माण्ड़का अभिमानी आत्मा) तथा 'ईश्वर' (समष्टिकारणरूप मायाका अभिमानी आत्मा) रूप से एक ही चेतन ब्रह्मतत्त्व, भ्रान्तिसे भिन्नकी तरह प्रतीत होता है।

विश्वादिकं त्रयं यस्माद्वैराजादित्रयात्मकम् ।
एकत्वेन समं पश्येदन्याभावप्रसिद्धये । ।४५ । ।

विश्व, विराट् है, तैजस, हिरण्यगर्भ है, तथा प्राज्ञ, ईश्वर है, इस प्रकार सभी आत्माओंको एकरूपसे समान अभिन्न देखे, जिससे भेदका अभाव, अभेद सिद्ध हो।

ॐकारमात्रमखिलं विश्वप्राज्ञादिलक्षणम् ।
वाच्यवाचकताऽभेदाद्भेदेनानुपलब्धितः । ।४६ । ।

'विश्व' 'प्राज्ञ' 'विराट्' आदि समस्त विश्व, ॐकार मात्र ही है क्योंकि वाच्य और वाचकका अभेद माना गया है। वाच्य (अर्थ) समस्त विश्व है, तथा वाचक (शब्द) ॐकार है। वाचकसे वाच्यका भेद उपलब्ध नहीं होता। अतः वाच्य समस्त जगत्, वाचक, ॐकार ही है।

अकारमात्रं विश्वं स्यादुकारस्तैजसः स्मृतः ।
प्राज्ञो मकार इत्येवं परिपश्येत्क्रमेण तु । । ४७ । ।

क्रमशः प्रथम विश्वको अकार, तैजसको उकार, तथा प्राज्ञको मकार रूप से देखना चाहिए।

समाधिकालात्प्रागेवं विचिन्त्यातिप्रयत्नतः।
स्थूलसूक्ष्मक्रमात्सर्वं चिदात्मनि विलापयेत्।।४८।।

समाधिकालसे प्रथम पूर्वोक्त-प्रकारसे अतिप्रयत्नपूर्वक चिन्तन करके, पश्चात् स्थूलसूक्ष्म यावत् द्वैतप्रपञ्च, शुद्ध-चिदात्मा में लीन कर देवे।

अकारं पुरुषं विश्वमुकारे प्रविलापयेत्।
उकारं तैजसं सूक्ष्मं मकारे प्रविलापयेत्।। ४९।।
मकारं कारणं प्राज्ञं चिदात्मनि विलापयेत्।

स्थूलप्रपञ्चसहित विश्वात्मारूप अकार-को उकार में लीन कर देवे, सूक्ष्मप्रपञ्चसहित तैजसात्मारूप उकार को मकार में लीन कर देवे, तथा कारण अज्ञानसहित प्राज्ञात्मारूप मकारको शुद्ध-चिदात्मामें लीन कर देवे।

(पं.) अहमात्मा साक्षी केवलश्चिन्मात्रस्वरूपः नाज्ञानं नापि तत्कार्यम्। किन्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं परमानन्दाद्वयं प्रत्यग्भूतचैतन्यं ब्रह्मैवाहमस्मीत्यभेदेनावस्थानं समाधिः। 'तत्त्वमसि' (छान्दो. ६।८।७) 'ब्रह्माहमस्मि' (परमहं. ३) 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (ऐ.; बृ. ३।९।) 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य. १; बृ. २।५।१९) इत्यादि श्रुतिभ्यः। इति पंचीकरणं भवति।

इति श्रीमदाचार्यश्रीशङ्करस्वामि-
विरचितं पंचीकरणं समाप्तम्।

मैं आत्मा साक्षी केवल चिन्मात्रस्वरूप हूँ, न अज्ञान हूँ, न अज्ञानका कार्य देहादि प्रपञ्च हूँ। किन्तु नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वरूप, परमानन्द-अद्वैतरूप, प्रत्यगात्मा-चैतन्य-ब्रह्म ही मैं हूँ, इस प्रकार अभेदभाव की स्थिरता करना ही समाधि है। 'तत्त्वमसि' (वह ब्रह्म तू है) 'ब्रह्माहमस्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (प्रज्ञानजीव आनन्दरूप ब्रह्म है) 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे पूर्वोक्त अभेद-ज्ञान सिद्ध

होता है। यही पञ्चीकरणका तात्पर्य है।

(वा.) चिदात्माहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसदद्वयः।।।५०।।
परमानन्दसंदोहवासुदेवोऽहमोमिति।
ज्ञात्वा विवेचकं चित्तं तत्साक्षिणि विलापयेत् ।।५१।।

मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, अद्वैत, चिदात्मा हूँ, मैं परमानन्दका महासागर वासुदेव ॐस्वरूप हूँ, इस प्रकार चित्तको विवेकसे युक्त करे, पश्चात् उसको साक्षी चिदात्मा में लीन करे।

चिदात्मनि विलीनं चेत्तच्चित्तं नैव चालयेत्।
पूर्णबोधात्मनाऽऽसीत पूर्णाचलसमुद्रवत् ।।५२।।

यदि वह चित्त चिदात्मामें विलीन हो गया है, तो उसको वहाँसे चलित न होने देवे। किन्तु पूर्णज्ञानानन्दरूपसे पूर्ण-अचल समुद्रके समान स्थिर एवं शान्त रहे।

एवं समाहितो योगी श्रद्धाभक्तिसमन्वितः।
जितेन्द्रियो जितक्रोधः पश्येदात्मानमद्वयम्।।५३।।

इस प्रकारकी समाधिवाला योगी, श्रद्धा-भक्तिसे युक्त होकर, जितेन्द्रिय तथा जित-क्रोध होता हुआ सदा सर्वत्र अद्वैत आत्मा का ही एकमात्र अनुसन्धान सतत करता रहे।

आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं यतः।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेत्सदा।।५४।।

यह नामरूपात्मक निखिल संसार आदि में मध्यमें तथा अन्त में दुःखरूप ही है, इंस लिये इस दुःखमय संसार को सर्वथा छोड़कर संदा तत्त्वनिष्ठ होना चाहिए।

यः पश्येत्सर्वगं शान्तमानन्दात्मानमव्ययम्[1]।
न तेन किञ्चिदाप्तव्यं ज्ञातव्यं वाऽवशिष्यते।।५५।।

जो अधिकारी साधक, सर्वव्यापक, शान्त आनन्दनिधि, एवं अव्यय आत्माका सर्वत्र अभेद रूप से साक्षात्कार कर लेता है, वह सदा के लिये कृतकृत्य हो जाता है, उसे अब कुछ प्राप्तव्य एवं ज्ञातव्य वस्तु बाकी नहीं रहती है क्योंकि आत्मज्ञानसे ही सब कुछ प्राप्त होता है और सब कुछ जाना जाता है।

कृतकृत्यो भवेद्विद्वाञ्जीवन्मुक्तो भवेत्सदा।
[2]आत्मन्यारूढभावस्तु जगदेतन्न वीक्षते।।५६।।

वह विद्वान् सदाके लिये कृतकृत्य एवं जीवन्मुक्त हो जाता है। आत्मामें स्थिर बुद्धिवाला वह इस जगत् को नहीं देखता है, जगत् उसकी दृष्टिसे गायब हो जाता है, और जगत्के स्थानमें उसकी दृष्टिमें एकमात्र-आत्मा ही परिशिष्ट रह जाता है।

कदाचिद्व्यवहारेषु द्वैतं यद्यपि पश्यति।
बोधात्मव्यतिरेकेण न पश्यति चिदन्वयात्।।५७।।

यद्यपि कदाचित् व्यवहार काल में उसे द्वैत संसारकी प्रतीति हो जाती है, तथापि वह उस द्वैत-व्यवहारको भी चिदात्मा से अतिरिक्त नहीं देखता है, अर्थात् उस व्यवहार से भी वह अद्वैतात्माकी ही भावना करता रहता है।

किन्तु पश्यति[3] मिथ्येदं दिङ्मोहेन्दुविभागवत्।
[4]प्रतिभासशरीरः स्यात्तदा प्रारब्धसंचयात्।।५८।।

---

१. अद्वयमिति पाठान्तरम्।

२. आत्मन्येवारूढ भाव इति पाठान्तरम्।

३. मिथ्यैवेति पाठान्तरम्।

४. प्रतिभासः शरीरस्येति पाठान्तरम्।

अथवा वह द्वैतसंसार को दिग्-भ्रान्ति के समान तथा दो-चन्द्र भ्रान्ति के समान मिथ्या देखता है। प्रारब्ध कर्मके प्रभाव से वह शरीरधारी प्रतीत होता है, परन्तु वह सदा अशरीर एवं असंगरूपसे अपने को अनुभव करता है।

'तस्य तावदेवचिर' मित्यादिश्रुतिरब्रवीत्।
प्रारब्धस्यानुवृत्तिस्तु मुक्तस्याभासमात्रतः।।५९।।

'तस्य तावदेव चिरं' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति जीवन्मुक्त तत्त्ववेत्ताके लिये प्रारब्ध-कर्मकी प्रतीति आभासमात्र है, अन्य साधारण लोगों की दृष्टि से है, उसकी दृष्टि से नहीं है—यह कहती है।

सर्वदा मुक्त एव स्याज्ज्ञाततत्त्वः पुमानसौ।
प्रारब्धशेषभोगस्य संक्षये तदनन्तरम्।।६०।।
अविद्यातिमिरातीतं सर्वाभासविवर्जितम्।।
चैतन्यममलं शुद्धं मनोवाचामगोचरम्।।६१।।
वाच्यवाचकनिर्मुक्तं हेयोपादेयवर्जितम्।
प्रज्ञानघनेमानन्दं वैष्णवं पदमश्नुते।।६२।।

आत्मतत्त्वको अपरोक्ष जाननेवाला वह पुमान् सर्वदा मुक्त ही है, और प्रारब्धकर्मका शेष भोग समाप्त हो जाने पर वह, अविद्यारूपी अन्धकारसे अतीत, सर्व-कल्पित पदार्थोंकी प्रतीतिसे रहित मन और वाणीका अविषय, निर्विकार, शुद्ध चैतन्य, वाच्यवाचकभावसे विनिर्मुक्त, हेय एवं उपादेयसे रहित, प्रज्ञानघन आनन्दस्वरूप वैष्णव पद को प्राप्त हो जाता है।

इदं प्रकरणं यत्नाज्ज्ञातव्यं भगवत्तमैः।
अमानित्वादिनियमै र्गुरुभक्तिप्रसादतः।।६३।।

श्रेष्ठ-भगवत्प्रेमियोंको 'अमानित्व' 'अदम्भित्वादि' साधनोंके द्वारा तथा गुरुभक्तिकी कृपासे यह पञ्चीकरण प्रकरण, सावधान-चित्त से जानना चाहिये।

इमां विद्यां प्रयत्नेन योगी संध्यासु सर्वदा।
समभ्यसेदिहामुत्रभोगानासक्तधीः सुधीः ।।६४।।

इस लोकके एवं परलोकके विषयभोगोंमें अनासक्त बुद्धिवाला, विवेकविचारशील योगी, इस आत्मविद्याको सर्वदा तीन प्रातः आदि संध्याओं में प्रतिदिन अभ्यास करे।

रागद्वेषादिरहितं स्वात्मानं चिन्तयेत्सदा।
स एव जीवन्मुक्तो वा न पुनर्भवसंभवः।।६५।।

इति श्रीमत्सुरेश्वराचार्यविरचितं
पञ्चीकरणवार्तिकं समाप्तम्।

राग-द्वेषादि विकारोंसे रहित, अपने विशुद्ध-आत्माका जो निरन्तर चिन्तन करता है, वह जीवन्मुक्त है, और उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

।। इति समाप्तम्।।

ॐ

श्रीमदानन्दगिरिस्वामिरचित-

विवरणम्

नमोऽपरमहंसौघानुगतांघ्रिजरेणवे।
सदा परमहंसाय कीर्तिव्याप्तद्युभूमये।।

भगवान् श्रीशंकराचार्यजी ने पञ्चीकरण नामक प्रकरण ग्रन्थ की कृपापूर्वक रचना विशेषतः श्रवणादितत्पर उन परमहंस संन्यासियों को तरीका स्पष्ट करने के लिये की है जिनके लिये श्रुति आदि में विधान किया है कि वे समाधि का अभ्यास करें। योग प्रक्रिया से विलक्षण ही वेदान्त प्रक्रिया की समाधि है जिसका यहाँ ढंग समझाया है। उस प्रकरण की विस्तृत व्याख्या श्री आनन्दगिरि स्वामी ने की है जिसमें बीजरूप से सारे वेदान्त शास्त्र का पूर्ण परिचय हो जाता है। परमेश्वर को प्रणाम कर आचार्य अपने विवरण नामक व्याख्यान का मङ्गलाचरण करते हैं—

मङ्गलम्

यदबोधादिदं भाति यद्बोधाद्विनिवर्तते।
नमस्तस्मै परानन्दवपुषे परमात्मने।।

जिनके अज्ञान से यह प्रतीत होता है, जिनके विज्ञान से निवृत्त हो जाता है, उन परमात्मा को नमस्कार है जिनका स्वरूप है निःसीम सुख।

निर्विभाग चेतन के बारे में उसी पर आश्रित अविद्यावश भूत-भौतिक सारा जगत्, जो 'यह' यों विषय बनता है, रज्जुसर्प की तरह प्रतीयमान है अतः चिन्मात्र के औपनिषद बोध से जगत् हट जाता है जैसे रज्जुज्ञान से सर्प। इसी से जगत् मिथ्या है क्योंकि ज्ञान से निवृत्त होना मिथ्या का लक्षण

है। इस तरह प्रपंच के होने व न होने के प्रति अज्ञान व ज्ञान की अपेक्षा से परमात्मा को कारण कहकर जगज्जन्मादिहेतुता रूप तटस्थ लक्षण व्यक्त किया। निःसीम सुख से सत् और चित् भी विवक्षित हैं, अतः स्वरूपलक्षण भी कह दिया। अभेदानुसंधान नमन है। इस पद्यमें परमात्मा कहकर प्रकृत ग्रन्थका विषय, ज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति कहकर प्रयोजन, इन दो को मुखतः एवं अधिकारी व संबंध अर्थात् सूचित किये हैं।

भूमिका

अतीतानेकजन्मकृतसुकृतप्रसादासादितशुद्धिबुद्धिमतां, विवेक वैराग्यशमदमादिसाधनसम्पन्नानां, परित्यक्तसर्वकर्मणां, मोक्ष-मात्रमाकाङ्क्षतां, तदुपायभूतं तत्त्वज्ञानम् आपाततः श्रुतिमुखाद् अधिगतमपि सम्यगवाप्तुमिच्छताम्, 'अतिलघुनोपायेन कथमिदमुत्पद्यताम्'—इति मन्वानः सन्नाचार्यः ओङ्कारं सर्ववेदसारभूतं तथाविधसम्यग्बोधसमुदयनिदानं प्रतिलभ्य; तदीयस्वरूपनिरूपण द्वारा तत्त्वं निवेदयितुकामः तदवयवभूतम् अकारम् अवतार-यन्नध्यारोपापवादन्यायम् अनुसरन् प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं प्रथमं स्थूलप्रपञ्चमुपन्यस्यति—ॐ पञ्चीकृतेति।

(ॐ पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च सर्वं विराडित्युच्यते।)

भगवान् भाष्यकार आचार्य श्री शंकर ने अधिकारियों के उपयोगार्थ यह प्रकरण रचा। जो अधिकारी उनकी दृष्टि में रहे उनमें ये विशेषतायें अपेक्षित हैं: (१) विगत बहुतेरे जीवनों में किये सत्कर्मों के फलीभूत होने से प्राप्त रागादिन्यूनतारूप शुद्धि युक्त बुद्धि वाला होना। (२) (क)—नित्य-अनित्य वस्तुओं को पृथक् कर समझने की सामर्थ्य (ख) ऐहिक पारलौकिक विषयभोगों की ओर आकर्षण न होना, (ग) मन एवं (घ) इंद्रियों पर नियन्त्रण (ङ) 'प्रवृत्तिलक्षण धर्म करना चाहिये' यह निश्चय हट चुकना, (च)

सहनशीलता, (छ) एकाग्रता एवं (ज) श्रद्धा—तत्त्वनिष्ठालाभ के इन हेतुओं की निजमें बहुतायत होना। (३) साधना संभव रखने से अतिरिक्त लौकिक व शास्त्रीय किसी भी कर्म को न करना ताकि पूर्वोक्त हेतुसमूह कार्यसमर्थ हो सके। (४) अन्य कुछ न चाहकर कैवल्य मोक्ष ही पाने की उत्कट इच्छा होना। (५) मोक्ष का इकलौता उपाय जो अद्वितीय तत्त्वका ज्ञान उसे वेदान्तों के अनुसार समझ चुकना यद्यपि वह समझ सभी संशयादि हटाने में असमर्थ रही हो। (६) जीव-ब्रह्मैक्य की वह समझ या अनुभूति पाने की तीव्रतर इच्छा होना जो अविद्या को तुरन्त समाप्त करे।

ऐसे अधिकारियों के बारे में आचार्य ने सोचा 'इन्हें वह अनुभव बहुत अल्प आयास से साध्य उपाय से कैसे उत्पन्न हो ?' विचारपूर्वक उन्होंनें निश्चय किया कि सारे वेद का साररूप 'ॐ' यह अक्षर अभिलषित सही ज्ञान की उत्पत्ति कर सकता है। उन्हें इच्छा हुई कि प्रणव शब्द के सहारे इसके अर्थ का निरूपण करने से परमार्थ वस्तु समझायें। सत्य समझाने का वेदान्तप्रसिद्ध तरीका है कि पहले तो प्रतीत द्वैत की एकमात्र संगति यह सिद्ध की जाये कि उसका निमित्त व उपादान कारण सच्चिदानंद ब्रह्म है और फिर निश्चय कराया जाये कि ब्रह्म से द्वैतका कभी कैसा भी सम्बन्ध नहीं है। इसी तरीके का अनुसरण करते हुए आचार्य प्रणव के हिस्से की तरह समझे 'अ' इस वर्ण का परिचय देना प्रारंभ करते हैं क्योंकि इस तरह क्रमशः समझाने से प्रणवार्थबोध सुकर है। अकारार्थ का एक घटक है स्थूल प्रपंच, उसे ही पहले स्पष्ट करते हैं 'ॐ' पञ्चीकृत' इत्यादि शब्दों से।

कुछ संस्करणों में 'ॐ पञ्चीकृत' आदि से पूर्व 'अथातः' इत्यादि अनुच्छेद पंचीकरण में मिलता है किन्तु आनन्दगिरि स्वामी के व्याख्यान से स्पष्ट है कि वे 'ॐ पञ्चीकृत' आदि से ही ग्रंथ का प्रारंभ मान रहे हैं अतः यही पाठ श्रद्धेय है। उत्सुकतानिवृत्ति के लिये वह अनुच्छेद भी जान लेना चाहिये—

"अथातः परमहंसानां समाधिविधिं व्याख्यास्यामः । ॐ सच्छब्दवाच्यम् अविद्याशबलं ब्रह्म । ब्रह्मणोऽव्यक्तम् । अव्यक्ताद् महत् । महतोऽहङ्कारः । अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि । पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि । पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत् । पञ्चानां भूतानाम् एकैकं द्विधा विभज्य, स्वार्द्धभागं विहाय, अर्धभागं चतुर्धा विभज्य, इतरेषु योजिते पञ्चीकरणं मायारूपदर्शनम् । अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ।"

अर्थात्—श्रवण-मनन कर चुकने पर भी जिसे निःशंक ज्ञान नहीं हो पाता ऐसे संन्यासी को क्योंकि समाधि के सहारे वैसा बोध मिल सकता है इसलिये जिन्होंने श्रवण-मनन कर लिया ऐसे त्यक्तकर्मा यतियों के लिये कर्तव्य समाधि का तरीका समझाते हैं । प्रणव इस प्रक्रिया का आलंबन है । (जिस तत्त्व में प्रतिष्ठित होना है उसका परिचय है—) मायाशक्ति वाला परमात्मा 'सत्' शब्द का वाच्य अर्थ है । उससे अव्यक्त हुआ अर्थात् ईश्वर ने ईक्षण किया 'तदैक्षत' । अव्यक्तशब्दित ईक्षणके बाद महत् कहलाने वाला संकल्प हुआ 'बहुस्याम् प्रजायेयेति' । इस महत् या संकल्प से हुआ अहंकार अर्थात् हिरण्यगर्भ जिससे पाँच तन्मात्रायें अर्थात् पाँच सूक्ष्म महाभूत विभक्त हुए । उनसे पाँचों स्थूल महाभूत बने जिनसे सारा जगत् रचा गया है । पाँचों सूक्ष्म भूतों में प्रत्येक को दो बराबर हिस्सों में बाँट कर हर-एक के आधे हिस्से को पुनः चार बराबर भागों में बाँट कर समूचे भूत के हर आधे भाग में अन्य भूतों के इन अष्टमांशों को मिलाने पर 'पंचीकरण' होता है जिससे माया इंद्रियगोचर बन जाती है । अध्यारोप-अपवाद द्वारा प्रपंचरहित को विस्तार से समझाया जाता है ।

श्री नारायण तीर्थ ने 'अथ पञ्चीकरणमारभ्यते । सच्छब्द०' यों प्रारंभ माना है । 'अथातः... स्यामः' यह पाठ तीर्थानुसार नहीं वरन् 'अद्वैतागमहृदय' नामक व्याख्याकार श्रीशान्त्यानन्द सरस्वती के अनुसार है । वार्तिककार की दृष्टि में यह अनुच्छेद था ही यह निर्णय कठिन है पर आनंदगिरि स्वामी

तो इसे नहीं स्वीकारते यह स्पष्ट है। त्रिशिखब्राह्मणोपनिषत् के आरंभ में 'सच्छब्द...जगत्' यह आनुपूर्वी मिलती है। पैंगलोपनिषत् में पैंगल को याज्ञवल्क्य ने परमरहस्यभूत कैवल्य का उपदेश इस तरह दिया है : 'पहले केवल अद्वितीय **सत्** था। उसमें गुणसाम्यरूप किंतु अनिर्वचनीय **मूलप्रकृति** थी। उसमें साक्षिचैतन्य प्रतिबिंबित था। प्रकृति में सत्त्वका उद्रेक हुआ तो **अव्यक्त** नामक आवरणशक्ति कार्यकारी हुई। जो उसमें प्रतिबिंबित था वह ईश्वर चैतन्य हुआ। रजोगुण का उद्रेक होने पर **महत्** नामक विक्षेपशक्ति प्रकट हुई जिसमें प्रतिबिंबित हुआ हिरण्यगर्भचैतन्य। तमउद्रेक होने पर अहंकार नामक स्थूलशक्ति व्यक्त हुई जिसमें प्रतिबिंबित था विराट् चैतन्य। उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ।' इत्यादि। यह क्रम भी विवादास्पद अनुच्छेद समझने में उपकारक हो सकता है।

अस्यायमर्थः—आकाशवायुतेजोऽम्ब्वन्नानि भूतानि तावद् अविद्यासहायात् परस्माद् आत्मनः सकाशाद् अनुक्रमेण जातानि। तानि च अतिसूक्ष्माणि व्यवहाराऽक्षमाणीति तदीयस्थौल्यापेक्षायां कल्पितव्यवहर्तृप्राशिनिकायव्यवहारनिर्वाहकतदीयधर्माधर्मात्मकक-र्मापेक्षया तानि एव पञ्चीकृतानि स्थूलानि भवन्ति।

'पंचीकृतपंचमहाभूतानि' का यह अभिप्राय है—अविद्यारूप मायाशक्ति जिनकी सहायता करती है उन परमात्मा से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँचों भूत उत्पन्न हुए। वे भूत बेहद सूक्ष्म अर्थात् अतीन्द्रिय थे अतः कर्म-भोगादि व्यवहार सम्पन्न कराने के लिये पर्याप्त नहीं थे। इसलिये जरूरत हुई कि उन्हे स्थूल बनाया जाये। भूतों की स्थूलता के लिये उन्हें आपस में एक खास ढंग से मिलाया जाता है जिससे वे ही भूत पंचीकृत अर्थात् स्थूल हो जाते हैं। यह पंचीकरण, पाँचों का ईश्वरद्वारा विशिष्ट परिमाण में मेलन, कर्मों के निमित्त से होता है, कर्मफल भोगा जाये इस उद्देश्य से होता है। ईश्वरोपाधि माया में संस्काररूप से स्थित, अपूर्व नामक

धर्म-अधर्म ही कर्म का वह स्वरूप है जिससे पंचीकरण आदि प्रयुक्त होता है। जीव समूह के सभी व्यवहार का निर्वाह करने वाला यह कर्म है। 'जीव' अर्थात् ब्रह्म में कल्पित जो व्यवहार करने वाले प्रमाता (हम सभी कर्ता-भोक्ता)।

भूतमेलनम्

तानि हि प्रत्येकं द्वैविध्यमापद्यन्ते। तत्र चैकैकं भागं प्रविहाय अपरेषु भागेषु एकैकशः चातुर्विध्ये सिद्धे सति, तत्तदात्मीयमर्द्धभागं परित्यज्य, इतरेषु भागेषु एकैकस्य भागस्य अनुप्रवेशे कृते सति प्रत्येकं भूतानि पञ्चतामापन्नानि 'पञ्चीकृतानि' इत्युच्यन्ते। तेषु च 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' (ब्र.सू. २.४.२२) इति न्यायेन व्यवहाराऽसङ्करश्च सिद्ध्यति।

भूतों का मिलना इस तरह होता है—पहले हर एक भूत दो बराबर हिस्सों में बाँट दिया जाता है। फिर हर भूत के आधे हिस्से को चार बराबर भागों में बाँटा जाता है। यों प्रत्येक भूत की एक राशि आधे भूत जितनी और चार राशियाँ भूत के आठवें भाग जितनी उपलब्ध होती हैं। इन आठवें भागों को स्वकीय भूतके अर्धभागसे अन्य भूतों के अर्ध भागों में मिला देने पर प्रत्येक भूत पाँच अंशों वाला हो जाता है जिसे पंचीकृत कहते हैं। (१/२ भाग आकाश में १/८ वायु, १/८ तेज, १/८ जल और १/८ पृथ्वी मिलाने पर जो समूचा आकाश तैयार हुआ उसे पंचीकृत कहते हैं। ऐसे पंचीकृत वायु में १/२ हिस्सा वायु का है और आकाश, तेज, जल व पृथ्वी के १/८ हिस्से हैं। अन्यों में भी इसी तरह समझना चाहिये।) यद्यपि यों स्थूल भूतों में सभी भूत उपस्थित हैं तथापि आकाश को वायु या वायुको आकाशादि नहीं कहा-समझा जा सकता क्योंकि जिस भूत का हिस्सा अधिक है, अर्थात् अर्धभाग है, उसी का व्यवहार होना उचित है।

पञ्चीकरणप्रामाण्यविचारः

न च – पञ्चीकरणमप्रमाणकम् – इति वक्तुं युक्तम्, भूतत्रयसर्गश्रुतौ भूतपञ्चकसर्गाङ्गीकारवत् त्रिवृत्करणश्रुतौ पञ्चीकरणाङ्गीकारात् ।

ननु – भूतत्रयसृष्टिश्रुतौ ब्रह्मणः सच्छब्दितस्य अद्वितीयत्वसिद्ध्यर्थं, सृष्टिपरिपूर्तये च, भूतद्वयमश्रुतमपि श्रुत्यन्तरमाश्रित्य गुणोपसंहारन्यायेन उपसंहर्तव्यम्; त्रिवृत्करणश्रुतौ तु पञ्चीकरणोपलक्षणे न कारणमस्ति –इति चेद् ?

न । छान्दोग्ये भूतपञ्चकसृष्टिविवक्षायां पुनः त्रिवृत्करणव्यपदेशस्य परिसङ्ख्यार्थत्वे प्रकरणविरोधप्रसङ्गात् ।

पंचीकरण अर्थात् पाँचों भूत उक्त माप में परस्पर मिलाये गये इसमें प्रमाण न हो ऐसी बात नहीं । जैसे उपनिषत् में जहाँ तीन भूतों की उत्पत्ति कही वहाँ पाँचों भूतों का जन्म अभिप्रेत समझा जाता है वैसे ही जहाँ त्रिवृत्करण अर्थात् तीन भूतों को आधा + एक चौथाई + एक चौथाई माप में मिलाना बताया है वहाँ सांप्रदायिक स्वीकारते हैं कि पंचीकरण अभिप्रेत है ।

प्रश्न हो सकता है कि भूतत्रयजन्म के प्रसंग में न कहे किंतु अन्यत्र श्रुति में उत्पन्न रूप से कहे दो भूतों का जन्म अभिप्रेत मानने में तीन कारण हैं :

(१) सत्-नामक ब्रह्म से पृथक् सत्ता वाला अन्य कुछ नहीं यह सिद्ध हो सके ।

(२) ब्रह्म से जो कुछ उत्पन्न हुआ उस सबका यहाँ उल्लेख हो जाये ।

(३) बादरायणाचार्य द्वारा निर्णीत इस नियम का उल्लंघन न हो कि तथ्य समझने के लिये एक विषय में सभी शाखाओं की सूचनायें एकत्र कर लेनी चाहिये ।

किन्तु जैसे तीन की उत्पत्ति से पाँचों की उत्पत्ति समझना उक्त हेतुओं से संगत है ऐसे त्रिवृत्करण-बोधक वचन से पंचीकरण समझा जाये इसमें कोई हेतु नहीं। तब पंचीकरण प्रामाणिक कैसे ?

उत्तर यह है—पंचीकरण अप्रामाणिक है यह बात नहीं। सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियों का ब्रह्मबोधन में समन्वय निश्चित होने से भूतत्रयमात्र की सृष्टि को विवक्षित नहीं मान सकते, पाँचों भूतों की उत्पत्ति समझनी पड़ेगी। इस तरह छांदोग्योपनिषत् में पाँचों भूतों के जन्म का कथन अभीष्ट निर्णीत होने पर यह भी माना जाये कि त्रिवृत्करण का उल्लेख परिसंख्या के लिये अर्थात् तीन से भिन्न जो पाँच उनके मेलन के निषेध के लिये भी है, तो प्रकरण का विरोध होगा अर्थात् जिसे समझाना आरंभ किया उसकी अपेक्षा अन्य के निषेध में भी अभिप्राय मानना होगा जो शास्त्रमर्यादा के विरुद्ध है। (दोनों अर्थ मानने पर वाक्यभेद होगा जो बड़ा दोष है। अतः त्रिवृत्करण का कथन यह बताने के लिये है कि जो भूत पैदा हुए उन्हें इसी ढंग से मिलाया गया; न कि केवल तीन का मेलन निश्चित करने के लिये। एवं च पाँचों भूतों का मेलन श्रुतिसमन्वयसे सिद्ध है।)

तत्रान्यन्मानम्

किञ्च नभोनभस्वतोरपि पृथिव्यादिषु स्थूलौ भागौ शब्दस्पर्शौ श्रोत्रेण त्वचा च उपलभ्येते। 'पञ्च चेन्द्रियगोचराः' (गी. १३.५) इत्यत्र स्थूलानि भूतानि 'इन्द्रियगोचर'-शब्देन व्याख्यातानि भगवता भाष्यकृता। न च शब्दस्पर्शयोः स्थौल्यं भूतान्तराऽनुप्रवेशाद् ऋते सिद्ध्यति।

इतनी ही बात नहीं, आकाश और वायु के स्थूल भाग हैं शब्द और स्पर्श जो पृथ्वी आदि में कान और त्वगिन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं। 'पाँच इंद्रियविषय' इस गीता का अर्थ करते हुए भगवान् श्री शंकराचार्य जी ने 'इन्द्रियविषय' इस शब्द से स्थूल भूत विवक्षित माने हैं। अन्य भूतों के मेलन के बिना शब्द-स्पर्श का स्थूली भाव सिद्ध नहीं होता। इसलिये शास्त्र व

अनुभव की अन्यथा अनुपपत्ति से पंचीकरण निश्चित है, इसे अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

महाभूतत्वम्

तानि चैतानि पञ्चीकृतानि पञ्चसंख्याकानि भूतानि स्वकार्यव्यापित्वाद् महान्ति च व्यपदिश्यन्ते।

पाँचों भूतों के अंशों को मिलाकर सम्पन्न हुए ये स्थूल भूत भी हैं गिनती में पाँच ही। अपने कार्यों को घेरे रखने से (अर्थात् इनकी सत्ता से अतिरिक्त इनके कार्यों की सत्ता न होने से) इन्हें 'महान्' विशेषण देकर महाभूत कहा जाता है।

भूतकार्यम्

तेषां च कार्यम् अन्तःकरणप्राणसमष्टीनाम् इन्द्रियसमष्टीनां च गोलकादिभेदभिन्नम् आधिदैविकं ब्रह्माण्डम् आध्यात्मिकम् आधिभौतिकं च तत्तदुच्चावचपरिच्छिन्नं शरीरभेदजातम्।

पंचीकृत महाभूतों का कार्य है ब्रह्माण्ड जो सब अंतःकरणों के समुदाय के, सब प्राणों के समुदाय के और सब इंद्रियों के समुदाय के विभिन्न गोलकादि में बँटा है। ब्रह्माण्डात्मक समूचा रूप आधिदैविक है, गोलकादि आध्यात्मिक या शरीरगत हैं और इन्द्रियविषय आधिभौतिक कहे जाते हैं। देव, मानव आदि श्रेष्ठ और पशु आदि नीच विभिन्न सीमित शरीर उस स्थूल ब्रह्माण्ड के ही एकदेश हैं।

विराट्

तदिदं सर्वभूतभौतिकरूपं सकलमपि स्थूलं जगद् अध्यात्मविद्भिः एकीकृत्य 'विराड्' इत्युच्यते। न पुनः आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकविभागोऽस्ति, सर्वस्यास्य भेदजातस्य भूतपञ्चककार्यस्य भूतव्यतिरेकेण अभावाद्, मृद्विकारस्येव तद्व्यतिरेकेणाऽभावादिति।

सभी स्थूल भूत व इनके कार्य जिसका रूप हैं अर्थात् कार्यकारणात्मक यह सारा ही स्थूल जगत् आत्मविषयक विचारकों द्वारा मिला-जुलाकर 'विराट्' शब्द से कहा जाता है। जैसे मिट्टी के परिणाम मिट्टी के बिना नहीं होते ऐसे पाँचों भूतों का कार्यरूप यह सारा भेदसमूह भूतों के बिना है नहीं अतः आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक विभाजन वास्तविक नहीं है।

स्थूलदेहः

अथेदं वैराजमेव रूपं प्रत्यगात्मतया प्रतिपत्तव्यं, न त्वन्यदात्मतत्त्वं ज्ञातव्यमस्तीति चेद्? नेत्याह—एतत् स्थूलशरीरमात्मन इति।

(एतत् स्थूलशरीरम् आत्मनः।)

यह जो विराट् रूप है क्या इसे ही विषयविलक्षण आत्मा समझना चाहिये, इससे अन्य कोई आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानने लायक नहीं है? ऐसा नहीं—यह मूलकार ने कहा 'यह आत्मा का स्थूल शरीर है' इन शब्दों से। विराट् रूप तो स्थूल शरीर ही है, आत्मा नहीं यह तात्पर्य है।

शरीरोपयोगः

ननु इदम् आत्मनः शरीरमपवर्गे नोपयुज्यते, तस्य अशरीररूपत्वात्। भोगायतनत्वेन भोगोपयोगित्वं वक्तव्यम्। कुत्र च तदभिमानाधीनो भोगः स्याद्? इत्याकाङ्क्षायाम्; तत्र जागरिते तदभिमानप्रयुक्तो भोगो भवतीति वक्तुं जागरितं लक्षयति—इन्द्रियैरिति।

शंका होती है : आत्मा का यह शरीर मोक्ष में अनुपयोगी है क्योंकि मोक्ष अशरीर स्थिति है। अतः यही कहना होगा कि शरीर भोग का आयतन—भोग करने का स्थान—है। तब बताना चाहिये कि यह भोग में उपयोगी कैसे? यह भी समझाना होगा कि शरीर में अभिमानवश (स्फुट तादात्म्याध्याससे) होने वाला भोग होता कहाँ—किस स्थिति में—है।

इस शंका पर, समाधान है कि शरीर में अभिमान से निर्धारित होने

वाला। भोग जागरित अवस्था में होता है। यह स्पष्ट करने के लिये मूल में जागरित की परिभाषा की—'इंद्रियों द्वारा' आदि से।

जागरितलक्षणम्

(इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्।)

सुषुप्तिव्यावृत्त्यर्थं शब्दादिविषयवाचकम् 'अर्थ'-पदम्। स्वप्नं निरसितुम् 'इन्द्रिय'-विशेषणम्। तत्र हि विद्यमानमपि मनो विविध-विषयाकारेण परिणतं साक्षिणो दृश्यतयाऽवतिष्ठमानं नोपलब्धौ करणं भवतीति भावः।

मूल में परिभाषा है—'इन्द्रियों द्वारा पदार्थों को ग्रहण करना जागरित है।'

यहाँ— 'पदार्थों को' अर्थात् शब्दादि बाह्य विषयों को—ऐसा इसलिये कहा ताकि स्पष्ट हो कि सुषुप्ति की बात नहीं चल रही। (वहाँ— सुखादि ग्रहण भले ही हों, शब्दादि नहीं ग्रहण होते।) 'इंद्रियों द्वारा' बताया कि यह स्वप्न की परिभाषा नहीं। (वहाँ अर्थ ग्रहण होते हैं पर इंद्रियों से नहीं।) स्वप्न में मन वर्तमान होने पर भी नाना विषयों के आकारों में बदला रहता है और साक्षी के विषय रूप से उपस्थित होता है। वह स्वाप्न विषय ग्रहण करने में तब असाधारण साधन नहीं बनता। यह तात्पर्य है।

विश्वः

(तदुभयाभिमान्यात्मा विश्वः।)

ननु वैराजे शरीरे जागरिते च प्रत्यगात्मा कथम् 'अहं' 'मम' इत्यभिमानभाग् भवितुमुत्सहते, न हि तस्यासङ्गोदासीनस्य क्वचिद् अहङ्कारो ममकारो वा युज्यते ?

तत्र; वस्तुतोऽभिमानाऽभावेऽपि कल्पनया तदुपपत्तेरित्यभिप्रेत्य; स्थूले शरीरे जागरिते च अहं-ममाभिमानवतः संज्ञां दर्शयन्नध्यात्मा-धिभूताधिदैवविभागाऽभावं सूचयति—तदुभयेति।

जिज्ञासा होती है कि आत्मा असंग अर्थात् अनात्मसंबंधरहित और उदासीन अर्थात् अनात्मप्रयुक्त-परिणामरहित है अतः किसी भी अनात्मवस्तु में उसे मैं-बुद्धि या मेरा-बुद्धि होना संगत नहीं तो विराट् शरीर और जागरित अवस्था में प्रत्यगात्मा को 'मैं' या 'मेरा' ऐसा अभिमान (अध्यास) कैसे हो पाता है ?

समाधान है कि वास्तविक मैं-बुद्धि आदि होना संभव न होने पर भी भ्रम से वैसा हो जाता है। इस तात्पर्य से स्थूल देह व जागरित अवस्था को 'मैं'-'मेरा' मानने वाले का नाम बताते हुए सूचित करते हैं कि अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैव यह विभाजन अपारमार्थिक है यह कहकर कि 'शरीर और अवस्था में अभिमान वाला आत्मा विश्व है'। (अभिमानशब्द अध्यासबोधक होने से पूर्वोक्त तात्पर्य सूचित होता है)

अकारः

(एतत् त्रयम् अकारः।)

ननु वैराजशरीरं जागरितं तदुभयाभिमानी चेति कथमेतत् त्रयमद्वैतवादिभिरास्थीयते ? तत्राह—एतत्त्रयमिति।

विराट् शरीर, जागरित अवस्था एवं इनमें अभिमानी विश्व—ये तीन वे औपनिषद कैसे मान लेते हैं जो ब्रह्म से अन्य दूसरा भी कुछ नहीं स्वीकारते ? तीन सचमुच मानते तो यह प्रश्न उठता ! औपनिषद तो कह रहे हैं कि ये तीनों सिर्फ 'अ' यह अक्षर हैं। अतः अद्वैत से विरोध नहीं वरन् अद्वैत समझने का कदम ही है उक्त ढंग से समझना।

उकारार्थविस्तारः

(अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि पञ्चतन्मात्राणि।)

तदेवमाद्यमकारं निरूप्य मध्यमम् उकारं निरूपयितुं सूक्ष्मप्रपञ्चं कथयति—अपञ्चीकृतेति।

अयमर्थः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः तन्मात्राणि सूक्ष्मभूतानि परस्परम् अनुप्रवेशशून्यानि अपञ्चीकृतानि पञ्चसङ्ख्याकानि पूर्ववद् महान्ति च भवन्ति।

पूर्वदर्शितरीति से 'अ' का निरूपण कर ॐ में मध्यवर्ती 'उ' का निरूपण करने के लिये सूक्ष्म संसार बताते हैं— 'अपंचीकृत पंचमहाभूत और उनका कार्य हिरण्यगर्भ है।' यह अभिप्राय है : स्थूल भूतों के प्रति कारण होने से 'तन्मात्र' कहलाने वाले शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध सूक्ष्म भूत हैं जिन्हें पूर्वोक्त अनुपात में आपस में मिलाया न गया होने से वे अपंचीकृत हैं। संख्या में वे भी पाँच हैं और अपने कार्यों में अनुगत होने से महान् भी हैं।

सूक्ष्मकार्यम्

(तत्कार्यं च—पञ्चप्राणाः, दशेन्द्रियाणि, मनो, बुद्धिश्चेति सप्तदशकं लिङ्गं भौतिकं हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। एतत् सूक्ष्मशरीरमात्मनः।)

तेषां च कार्यं—कर्मेन्द्रियपञ्चकं; ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं; प्राणादिवायुपञ्चकं; बुद्धिः, मनश्च इत्यन्तःकरणद्वयम्; इति सप्तदशकं लिङ्गम्। तच्चेदं कयापि विधया प्रतीचो गमकत्वादेव 'लिङ्गम्' इति व्याख्यायते। 'तत्कार्यम्' उक्त्वा भौतिकत्वम् अभिदधानो लिङ्गस्य आहङ्कारिकत्वम् अप्रामाणिकमिति मन्यते। तदेतदपञ्चीकृतभूतपञ्चकं, लिङ्गम्, तच्च सप्तदशकं पूर्वोक्तं भूतकार्यतया भौतिकम्, सर्वमेतद् एकीकृत्य 'हिरण्यगर्भ'-शब्देन उच्यते। इति हिरण्यगर्भस्यापि विराडात्मवद् न आत्मत्वम्, किन्तु तदुपाधित्वम् इत्यभिप्रेत्याह—एतदिति।

सूक्ष्म भूतों का कार्य 'लिंग' है। पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण आदि पाँचों वायुवृत्तियाँ तथा बुद्धि और मन इन दो प्रधान वृत्तियों वाला अन्तःकरण—इन सत्रह अवयवों वाला सूक्ष्मशरीर 'लिंग' कहलाता है क्योंकि

किसी भी ढंग से यह प्रत्यगात्मा का ज्ञापक बनता है। (अप्रकट वस्तु के बोधक को लिंग कहते हैं। इंद्रियचेष्टादि से प्रत्यगात्मा को समझा जा सकता है अतः इंद्रियादि लिंग हैं।) लिंगको भूतों का कार्य कहने से आचार्य ने अपनी मान्यता स्पष्ट कर दी कि इन्द्रियादि महाभूतों के परिणाम ही हैं, न कि सांख्यों की तरह सीधे ही 'अहंकार' के कार्य। यह भी द्योतित हुआ कि 'मैं' अनुभव वास्तव में लिंगको विषय नहीं करता।

ये अपंचीकृत पाँचों भूत और पूर्वकथित लिंग जो सत्रह हिस्सों वाला तथा भूत जन्य अतः भौतिक है; ये सब मिलाकर 'हिरण्यगर्भ' शब्द से कहे जाते हैं। यों स्पष्ट है कि जैसे विराट् आत्मा नहीं वैसे हिरण्यगर्भ भी आत्मा नहीं बल्कि आत्मा की उपाधि ही है। अतः मूलकार ने कहा 'यह आत्मा का सूक्ष्म शरीर है।' (इन्द्रियों से अगोचर होने के कारण यह सूक्ष्म है।)

स्वप्नः

(करणेषु उपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्न इत्युच्यते।)

अथाधुना चास्य भोगायतनत्वं यत्र, तम् अवस्थाविशेषं लक्षयति— करणेष्विति। **'प्रत्ययः स्वप्न' इत्युक्ते सुषुप्तौ अतिप्रसक्तिः मा भूद् इत्युक्तं 'सविषयः' स्वप्न इति। वासनामयविषयसहितः स्वप्नेऽपि प्रत्ययो भवतीत्यर्थः। जागरितव्यावृत्त्यर्थमुक्तम् 'करणेषूपसंहृतेषु' इति। ननु तर्हि करणाऽभावात् कथमयं प्रत्ययः समुद्भवेद् ?** इत्याशङ्क्याह—जागरितेति। **'संस्कार'-ग्रहणं न कारणान्तरपरिसङ्ख्यार्थं, कारणान्तरस्य अदृष्टादेरिष्टत्वाद् इति द्रष्टव्यम्।**

अब यह समझाना है कि सूक्ष्मशरीर भी भोगोपयोगी ही है। जिस स्थिति में वह विशेषतः भोगस्थान बनता है उसकी परिभाषा करते हैं—'इन्द्रियों द्वारा अपना कार्य करने से विरत हो जाने पर जागरित में पड़े संस्कारों से

उत्पन्न सविषय ज्ञान स्वप्न है।'

'ज्ञान स्वप्न है' कहते तो गहरी नींद में लक्षण जा सकता था अतः 'सविषय ज्ञान' ऐसा कहा। (अर्थात् स्वप्न में विषय और ज्ञान दोनों हैं और ज्ञान विषयविशेषित प्रतीत होता है। 'विषय' भी शब्दादिरूप विवक्षित हैं।) तात्पर्य है कि सपने में भी ज्ञान होता है किंतु उसके साथ वासनामय विषय भी होते हैं। ('वासनामय' अर्थात् जागरितादि के अनुभवों से चित्त में पड़ी विषय की छाप—जिसे वासना, संस्कार आदि कहते हैं— के सहारे निर्मित मायिक पदार्थ।) स्वप्नलक्षण जागरित में न जाये इसलिये इंद्रियों की निर्व्यापारता होना भी तब ज़रूरी बताया। इंद्रिय कार्यकारी नहीं तो स्वप्न में ज्ञान उत्पन्न किससे होता है? जागरित में बटोरे संस्कारों के निमित्त से ही वह पैदा हो जाता है 'जागरित के संस्कार' यों जो संस्कार कहा उससे यह नहीं समझना चाहिये कि संस्कार से अन्य कोई कारण स्वप्न का है ही नहीं क्योंकि पुण्य-पाप आदि संस्कारभिन्न कारण स्वीकार ही है।

तैजसः

(तदुभयाभिमान्यात्मा तैजसः।)

इदानीं हिरण्यगर्भशरीरे स्वप्ने च अहं-ममाभिमानवतः संज्ञां सङ्गिरते—तदुभयेति। तैजसः—तेजसि वासनायाम् अभिमानितया निर्वृतो भवतीति व्युत्पत्त्योच्यते।

हिरण्यगर्भ देह और स्वप्न अवस्था में 'मैं'-'मेरा'—अभिमान वाले का नाम है तैजस। तेज अर्थात् वासना, उसमें अभिमानी होने से जो तृप्त होता है उसे तैजस कहना संगत है।

उकारः

(एतत् त्रयमुकारः।)

न च सूक्ष्मशरीरं स्वप्नावस्था च तयोरभिमानीति एतत्त्रितयाङ्गीकारेण

द्वैतमाशङ्कितव्यमित्याह—एतत् त्रयमुकार इति।

सूक्ष्म देह, स्वप्नावस्था और इनमें अभिमानी आत्मा – ये तीन मानने पर द्वैत को अनुमति हो गयी ऐसा नहीं समझना चाहिये क्योंकि ये तीनों सिर्फ 'उ' यह अक्षर हैं।

मकारार्थप्रपञ्चः

(शरीरद्वयकारणम् आत्माऽज्ञानं साभासम् अव्याकृतमिति उच्यते। एतत् कारणशरीरमात्मनः।)

ननु अकारात्मकस्थूलशरीरस्य उकारात्मकसूक्ष्मशरीरस्य च पारमार्थिकत्वाभ्युपगमे द्वैतता स्याद् इति ? नेत्याह—शरीरद्वयेति। **कथं पुनः आत्माश्रयमात्मविषयं चाऽज्ञानं कार्याय पर्याप्तमचेतनत्वादिति ? तत्राह**—साभासमिति। **कुलालाद्यधिष्ठितं हि मृदादि घटादिकं कुर्वदुपगम्यते, तद्वत् चिदाभासव्याप्तमज्ञानं शरीरद्वयाकारेण परिणमते विवर्तत इत्यर्थः। 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीद्' (बृ. १.४.७) इत्यादिश्रुतावव्याकृतस्य कारणत्वश्रुतेः कथमात्माज्ञानस्य तु तदुक्तम् ? इत्याशङ्क्य; तत्रैव अव्याकृतशब्दप्रयोगाद् नैवमित्याह**—अव्याकृतमिति।

अ-शब्द रूप स्थूल शरीर एवं उ-शब्द रूप सूक्ष्म शरीर को वास्तविक मानने पर द्वैत स्वीकृत हो जायेगा जो यहाँ विवक्षित नहीं अतः मूल में कहा—'दोनों शरीरों का कारण है आभासयुक्त आत्मा-अज्ञान जिसे अव्याकृत भी कहते हैं। यही आत्मा का कारणशरीर भी है।' जड होने से अज्ञान, जो आत्मा पर टिका है और आत्मा के ही बारे में है, कार्य उत्पादन में समर्थ नहीं हो सकता अतः कार्यसमर्थ कारण कहने के लिये अज्ञान को 'आभासयुक्त' कहा। कुम्हार आदि द्वारा नियंत्रित मिट्टी आदि ही घट आदि व्यवस्थित कार्य उत्पन्न करते हुए स्वीकारे जाते हैं, ऐसे चेतन की छाया अर्थात् अभिमान से घिरा अर्थात् विषयभूत अज्ञान उक्त दोनों शरीरों के

रूप में बदल जाता है अर्थात् आत्मा में वास्तविक अंतर आये बिना उसे अपने से अनुगत हुए देहद्वयका अनुभव हो जाये यह संभव करा देता है। शंका हो सकती है कि वेद ने 'अव्याकृत' को कारण कहा है, यहाँ अज्ञानको कैसे कारण कह दिया ? समाधान है कि अज्ञानको ही वेद ने अव्याकृत कहा है।

अज्ञानम्

(तच्च न सत्, नासत्, नापि सदसत्; न भिन्नं, नाभिन्नं, नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चित्; न निरवयवं, न सावयवं, नोभयम्; किन्तु केवलब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यम् ।)

मूलकार ने अज्ञानका परिचय दिया है– 'वह सत्, असत् या सदसत् (जो सत् भी हो और असत् भी ऐसा) नहीं है। वह किसी से भिन्न, अभिन्न या दोनों नहीं है। न वह हिस्सों वाला है, न हिस्सों रहित और न ही दोनों। फिर वह क्या है ? केवल ब्रह्म और अपनी एकता के ज्ञान से बाध होने योग्य पदार्थ वह अज्ञान है।' इसकी व्याख्या टीकाकार सुस्पष्ट करने जा रहे हैं।

सदसद्वैलक्षण्यम्

शरीरद्वयहेतोरव्याकृतस्य अर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वाभ्युपगमात्, तत्कार्यस्यापि तथात्वाद्, अद्वैतानुपपत्तिः ? इत्याशङ्क्याह–तच्चेति। तस्यापि सत्त्वे 'सदेव' इति ब्रह्मणि अवधारणायोगाद् अभिधास्य-मानज्ञानापनोद्यत्वाऽनुपपत्तेश्च सत्त्वासिद्धिरित्यर्थः।

तर्हि सत्त्वनिषेधाद् असत्त्वमेव स्याद् नभोनलिनीवदिति चेद् ? नेत्याह–नासदिति। 'अज्ञोऽहम्' इत्यपरोक्षप्रतीतिविरोधाद् अर्थक्रिया-कारित्वाच्च नात्यन्तिकमसत्त्वम्। न च परस्परविरोधे सत्त्वासत्त्वयोर्वि-

धान्तरानुपपत्तिः; संसर्गाभावान्योन्याभावयोर्भेदप्रतिपादको योऽन्योन्याभावः स यथा एतदुभयविलक्षणः तद्वदत्रापि सत्त्वाऽसत्त्वविलक्षण इत्यर्थः। अभावान्योन्याभावयोरन्योन्याभावस्य तद्भावानभ्युपगमवद् इहापि सत्त्वस्य असत्त्वस्य चानभ्युपगमसम्भवादिति भावः।

अस्तु तर्हि प्रत्येकं सत्त्वासत्त्वप्रतिषेधेऽपि समुच्चितं सदसदात्मकम् अव्याकृतमिति चेद् ? मैवम्; विरोधाद् एकत्र तद्भावाऽसम्भवादित्याह— नापीति।

दोनों शरीरों के प्रति कारणभूत अव्याकृत क्योंकि सप्रयोजन क्रिया में समर्थ है इसलिये सत् माना जायेगा और उसका कार्य भी सत् ही होगा तो अद्वैत कैसे संगत हो सकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये बताया कि अज्ञान सत् नहीं है। शास्त्र ने निश्चित कर कहा है कि ब्रह्म ही इकलौता सत् है अतः अव्याकृतादि को सत् मान नहीं सकते। किं च अव्याकृत तत्त्वज्ञान से निवृत्त होता है इससे भी त्रिकालाबाध्यतालक्षण सत्त्व उसमें नहीं हो सकता। सप्रयोजन क्रिया में सामर्थ्य (या काम चलाऊ होना) अव्याकृत में भले ही हो, उसे सत्त्व नहीं कह सकते क्योंकि कभी बाध न होने वाला ही सत् होता है।

तो क्या आकाशपुष्प की तरह अव्याकृत असत् है ? नहीं, वह असत् भी नहीं। 'मैं अज्ञानी हूँ' यों साक्षात् अनुभव का विषय बनने वाला अज्ञानरूप अव्याकृत असत् नहीं हो सकता क्योंकि असत् का कभी साक्षात् अनुभव नहीं हो सकता। प्रयोजन वाली क्रिया करने वाला होने से भी अव्याकृत असत् नहीं है। सत्त्व-असत्त्व आपस में विरोधी हैं अतः अव्याकृत सत् या असत् ही हो सकता है, इन दोनों से अन्य किसी ढंग का वह कैसे होगा? बताते हैं—प्रागभाव, ध्वंस और अत्यंताभाव का संमिलित नाम है संसर्गाभाव तथा भेद का नाम है अन्योन्याभाव। अभाव दो तरह का ही मानते हैं। संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव में जो अन्तर है उसका निर्वाह करने वाला

जो अन्योन्याभाव है उसे संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव से अलग ही मानना पड़ेगा (चाहे इसका अभिप्राय निकले कि अभाव दो नहीं तीन तरह का है)। ऐसे ही प्रकृत में भी सत्त्व-असत्त्व से विलक्षण होना संगत समझना पड़ेगा। संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव के अंतर को जैसे इन दोनों में से किसी का रूप नहीं मान सकते वैसे अव्याकृत को न सत् और न असत् मानें यह उपपन्न है। (वस्तुतः तो सत्त्व-असत्त्व का परस्पर विरोध ही ऐसा नहीं कि इनसे विलक्षण होना असंभव हो, यह अन्यत्र स्पष्ट है।)

सत् या असत् न होने पर भी सद्-असद् रूप ही अव्याकृत हो सके यह भी संभव नहीं क्योंकि सत्त्व-असत्त्व इकट्ठे ही रह नहीं सकते, कारण कि इनका विरोध है। (इस तरह अव्याकृत सत् और असत् से विलक्षण या अनिर्वचनीय सिद्ध हुआ)

भेदाभेदविलक्षणता

तर्हि सतः, असतः, सदसद्भ्यां वा भिन्नमिति चेद् ? नेत्याह—न भिन्नमिति। **न हि भेदो धर्मत्वेन स्वरूपत्वेन वा प्रतिपादयितुं शक्यते। धर्मत्वे भेदाभेदविकल्पप्रवेशप्रसङ्गात्। स्वरूपत्वे च अन्यतरपरिशेषापातादित्यर्थः। भेदनिषेधे प्राप्तमभेदं निरस्यति**—नाभिन्नमिति। **सदसद्भ्यामन्यतमपरिशेषे पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्। अव्याकृतमात्रपरिशेषे च वस्त्वप्रसिद्धेः तदसिद्धिरित्यर्थः।**

भेदाभेदयोरेकैकस्य निषेधेऽपि प्राप्तं भिन्नाभिन्नत्वं विरोधात् प्रत्याचष्टे—नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चिदिति। **सतोऽसतश्चेति प्रत्येकं, मिलितस्य च प्रतियोगित्वमुच्यत इति ज्ञातव्यम्।**

तब क्या अव्यक्त सत्से, असत्से और सदसत्से वास्तव में अलग ही है ? नहीं, वह किसी से वस्तुतः भिन्न नहीं। भेद न तो विशेषता के रूप में और न ही स्वरूप के रूप में समझाया जा सकता है। यदि भेद को पदार्थ

की विशेषता मानें तो पुनः प्रश्न रहेगा कि वह विशेषता पदार्थ से अलग है या नहीं ? इस प्रकार अनिश्चय की स्थिति हो जायेगी। और यदि भेद को उन पदार्थों का निजी रूप ही मानें जिन्हें वह 'भिन्न' (भेदवान्) बना रहा है, तो दोनों पदार्थों से अतिरिक्त 'भेद' कुछ रहा ही नहीं कि किसी को भिन्न बना सके।

अव्याकृत सत् आदि से अलग नहीं तो क्या उनसे अभिन्न ही है ? ऐसा भी नहीं क्योंकि अगर उसे सत्से एक मानें तो बाध्य नहीं होगा, असत्से एक मानें तो उसका अपरोक्ष अनुभव नहीं घटेगा और उभयरूप तो विरोधवश मान ही नहीं सकते। कोई कह सकता है कि अव्याकृत ही इकलौता तत्त्व है, बाकी सब उसी से अभिन्न है अतः सत् आदि को अव्याकृतरूप ही मान लें तो क्या हानि है अर्थात् अव्याकृताद्वैत या जडाद्वैत मानने में क्या दोष ? ऐसा पूछने वाले को समझा देना चाहिये कि जैसे चेतन स्वतः सिद्ध सच्चिदानन्दरूपता वाला है और उसके वैसे रूप में श्रुति प्रमाण है, उस तरह उक्त ढंग का अव्याकृत न स्वतः सिद्ध है और न प्रामाणिक अतः उससे सभी की एकता अमान्य है।

सत् आदि से भेद या अभेद न होने पर भी भेदाभेद होता होगा यह भी नहीं समझना चाहिये क्योंकि 'भेदाभेद' यह निरर्थक शब्द ही है ! भेदाभेद के प्रति प्रतियोगी रूप से सत् आदि हर-एक और दोनों मिलकर भी विवक्षित हैं। (अर्थात् न सत् से भेदाभेद है, न असत् से, न सदसत् से।)

(प्रसंगवश जान लेना चाहिये कि जैन दर्शन का अनेकांतवाद यह नहीं है। वे पदार्थों के बारे में सात संभावनायें इकट्ठे ही मौजूद मानते हैं, वस्तु को 'है' और 'नहीं है' आदि एक साथ ही मानते हैं जो युक्ति और अनुभव से विरुद्ध है। मिथ्यात्व का अभिप्राय है कि ब्रह्मज्ञान से बाध्य अतः सत् नहीं और अपरोक्ष प्रतीयमान अतः असत् नहीं, दोनों से विलक्षण व्यावहारिक है।)

अवयवनैरपेक्ष्यम्

सत्त्वादिना निर्वक्तुमशक्यत्वेऽपि मूलकारणत्वादव्याकृतं निरवयवत्वेन शक्यं निर्वक्तुम्? इत्याशङ्क्याह—न निरवयवमिति। **न हि तस्य अनात्मनो निरवयवत्वं, तत्तन्नानाविधप्रपञ्चाकारपरिणामित्वाद् इत्यर्थः। तर्हि परिणामित्वादेव मृदादिवदेष्टव्यं सावयवत्वम्? इत्याशङ्क्याह**—न सावयवमिति। **सावयवत्वे कार्यद्रव्यत्वेन मूलकारणत्वानुपपत्तेः, तत्तत्कार्याकारपरिणामस्य च मिथ्यात्वेन विवर्तत्वादित्यर्थः। अर्थप्राप्तमुभयरूपत्वं विरोधेन प्रत्यादिशति**—नोभयमिति।

अव्याकृत को सत्, असत्, सदसत् यों भले ही परिभाषित न किया जा सके उसे निरवयव रूप से तो निश्चित किया ही जा सकता है क्योंकि वह प्रपंचका मूल (अंतिम) कारण है और यदि सावयव हो तो स्वयं कार्य ही होगा, मूल अर्थात् अकार्य नहीं होगा—यह शंका है। समाधान है कि अव्याकृत जड है और तरह-तरह के प्रपंचांशों के रूप में बदलता है अतः निरवयव नहीं हो सकता। (कारण को कार्यका अवयव मानना पड़ता है जैसें धागों को कपड़े का अवयव समझा जाता है।) तब क्या मिट्टी आदि की तरह कार्याकार ग्रहण करने वाला होने से वह सावयव ही है ? नहीं है, क्योंकि तब वह अंतिम कारण नहीं हो सकता। बिना सावयव हुए वह विविध कार्यों का आकार कैसे लेता है ? कार्याकार और वह आकार ग्रहण करना अवास्तविक है अतः बिना सचमुच सांश हुए भी अव्याकृत कार्याकार में प्रतीत हो यह संगत है। वास्तविक बदलाव ही सांशता चाहता है। सावयव-निरवयव दोनों हो, यह तो व्यर्थ की बात होगी अतः अव्याकृत को उभयरूप कहना असंगत है।

ज्ञाननिवर्त्यत्वम्

ननु केनाऽपि प्रकारेण निर्वचनाऽसंभवेऽपि किन्तदनिर्वचनीयत्वम्,

न हि लक्षणमन्तरेण लक्ष्याधिगतिरस्ति ? तत्राह—किन्त्विति। **अस्य अज्ञानस्य सर्वथा उक्तलक्षणशून्यत्वाद्, अत एव निर्वक्तुमशक्यत्वाद्, यत्किञ्चिच्छब्दवाच्यत्वेन तत्सिद्धेः आत्मनि द्वैतोत्पत्तिः सिद्धा।**

तन्निवारणार्थं तद्धानोपायमाह—केवलेति। **निरालम्बनज्ञानाऽयोगाद् यत्किञ्चिदालम्बनज्ञानस्य च सनिदानसंसारनिराससाधनत्वासम्भवात् तदुचितं विषयं दर्शयति**—ब्रह्मात्मैकत्वेति।

सत् आदि रूप से परिभाषा न बनायी जा सकने पर भी कोई तो तरीका उसे समझाने का होगा क्योंकि अपने खास रूप से वस्तु समझ आये इसका उपाय हुए बिना किसी वस्तु की सही जानकारी संभव नहीं। यों समझने के उपाय की जिज्ञासा होने पर मूलकार ने बताया कि केवल ब्रह्म-आत्मा की एकता के ज्ञान से वह अव्याकृत मिटता या बाधित होता है। एवं च सद्-असत् विकल्पों में न बँध पाना—यह एक खास रूप है अव्याकृत का जिसे सदसद्विलक्षणत्व या अनिर्वचनीयत्व कहते हैं। दूसरा खास रूप है ज्ञाननिवर्त्यत्व। अव्याकृत अज्ञान ही है जो सत्त्व आदि असाधारण रूपों वाला किसी तरह नहीं हो सकता अतः उन सन्दर्भों से परिभाषित नहीं किया जा सकता। उसे समझना इसीलिये ज़रूरी है ताकि शास्त्र में जो यह कहा कि इकलौते आत्मा के रहते ही सारा भेद उपस्थित है, वह संगत लग पाये; और इसके लिये इतना ही पर्याप्त है कि किसी शब्द के अर्थरूप से हम अव्याकृत या अज्ञान का ग्रहण कर लें, उसके प्रमाणित या विशिष्ट लक्षणयुक्त होने की आवश्यकता नहीं। अविद्या हटाने के लिये उपयोगी उपाय मूल में अद्वैत ज्ञान बताया। ज्ञान को कोई सहारा चाहिये अज्ञान मिटाने के लिये; वह सहारा ही उसका 'विषय' कहलाता है। बिना विषय के ज्ञान अज्ञाननिवर्तक नहीं हो पाता। चाहे जो विषय बनने पर तो सकारण प्रपंच के निवर्तक ज्ञान की प्राप्ति होती नहीं (अन्यथा घटादि के ज्ञान से मोक्ष हो चुकना चाहिये) अतः मोक्षप्रद ज्ञान के लिये उचित विषय मूलकार ने स्पष्ट किया है। (केवल

अर्थात् उपाधि से असंबद्ध रूप से समझ लिये गये जो ब्रह्म और जीव, उनकी एकता अर्थात् अभेद का ज्ञान अर्थात् अनुभव।)

कर्मसमुच्चयनिषेधः

अथ यथोक्तं ज्ञानम् अग्निहोत्रादिसहितं फलसाधनं, साधनभूयस्त्वे फलभूयस्त्वसम्भवात् ? मैवम्; मिथो विरुद्धयोः समुच्चयाऽयोगात्; फलस्य च कैवल्यस्य निरतिशयत्वाद् इत्याशयवानाह—केवलेति।

मूलस्थ 'केवल' शब्द का एक और भी तात्पर्य है। पूर्वोक्त अद्वैतबोध अग्निहोत्रादि कर्म, योग, प्रसंख्यान आदि का साथ पाने से फलोपाय होना चाहिये क्योंकि अधिक साधन हों तो फल में भी विशेष देखा जाता है—यह सहज संभावना है। 'केवल' शब्द से इसे हटाया है। बोध और कर्मादि आपस में विरोधी हैं अतः एक फल के लिये वे बोध से मेल करें यह असंभव है। मोक्षरूप फ़ल में तारतम्य है नहीं कि उपायबाहुल्य से कोई विशेष हो सके। अतः सिर्फ तत्त्वानुभव ही अविद्यानिवृत्ति में पर्याप्त उपाय है।

सुषुप्तिः

(सर्वप्रकारज्ञानोपसंहारे बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिः।)

अव्याकृतस्य अनिर्वाच्यस्य आधिदैविकीमवस्थामुक्त्वा सम्प्रति आध्यात्मिकीमवस्थां तदेकत्वविवक्षया दर्शयति—सर्वप्रकारेति। **इन्द्रियसंस्पृष्टस्थूलार्थाकारतया स्थूलत्वं, वासनारूपसूक्ष्मार्थाकारतया सूक्ष्मत्वं च ज्ञानानां सर्वप्रकारत्वम्। तेषामशेषविशेषविज्ञानानामुपरमो मुक्तावपि सम्भवतीत्येतदुक्तम्**—बुद्धेरिति। **अन्तःकरणस्य कारणाकाररूपेणावस्थानमवस्थान्तरे जागरितादावस्तीत्याद्यं विशेषणम्।**

अनिर्वाच्य अव्याकृत का आधिदैविक या समष्टि रूप है अद्वैत का अज्ञान यह बताया। अब देह में वह जब स्पष्ट प्रतीत होता है उस अवस्था

का वर्णन करते हैं ताकि अध्यात्म को अधिदैव से अभिन्न समझ सकें। 'सभी तरह के ज्ञानों का विराम होने पर बुद्धि का अपने कारण रूप से रहना सुषुप्ति है।' ज्ञानके सब अर्थात् दो प्रकार या अवस्थिति के ढंग हैं : (१) स्थूल–इंद्रियों से संबंध वाले स्थूल विषयों से यों विशेषित होकर रहना कि उनका अनुभव होता रहे। और (२) सूक्ष्म–संस्कार रूप से स्थित विषयों से यों विशेषित होकर रहना कि उनकी स्मृति उत्पन्न हो सके। सुषुप्ति में इन दोनों तरहों से ज्ञान नहीं रहता। (उस अवस्था में विषयस्मृति भी संभव नहीं।) मोक्ष में भी यों ज्ञानविराम कहा जा सकता है पर वहाँ बुद्धि रहती ही नहीं जबकि सुषुप्ति में वह बनी रहती है, केवल तत्काल कार्यकारी नहीं होती, यह दोनों में अंतर है। जागरणादि अन्य अवस्थाओं में भी अन्तःकरण कारण के आकार से भी रहता ही है (जैसे घटादि मृदाकार से तो हैं ही) अतः सुषुप्ति की विशेषता कही तब सब प्रकार के ज्ञानों का विराम रहता है, अन्यदा तो ज्ञान व्यक्त रहते हैं।

कारणरूपस्थितिः

किमिदं कारणात्मना बुद्धेः अवस्थानम्–(१) किं कारणस्य बुद्धेश्च अवस्थानम् ? (२) किं कारणस्यैव तद्वासनावासितस्यैव पुनर्बुद्ध्युत्पादनयोग्यस्य ? प्रथमे, जागरितादेरविशेषः सुषुप्ते स्यात्। द्वितीये, बुद्धिग्रहणमनर्थकम्।–इति चेद् ? मैवम्। बुद्धेर्यत् कारणं तस्यैव तद्वासनावासितस्य पुनर्बुद्ध्युत्पादनयोग्यस्य स्थितेरिष्टत्वाद् इति द्रष्टव्यम्।

कारणरूप से बुद्धि रहती है का क्या मतलब ? एक अर्थ हो सकता है कि कारण और बुद्धि दोनों रहते हैं। दूसरा अर्थ हो सकता है कि बुद्धि-संस्कारयुक्त कारण ही रहता है जो फिर बुद्धि को पैदा कर सकता है। यदि प्रथम अर्थ है तब तो सुषुप्ति अन्य अवस्थाओं से अलग नहीं रहेगी (और तीन अवस्थायें होती हैं यह अनुभवादि विरुद्ध पड़ेगा।) यदि दूसरा अर्थ हो तो 'बुद्धि कारणरूप से रहती है' यों बुद्धि का ग्रहण व्यर्थ है, केवल इतना

पर्याप्त है कि 'कार्योत्पादनयोग्य कार्यवासित कारण रहना सुषुप्ति है'। अतः मूल में बुद्धि का कथन क्यों ? उत्तर है कि प्रथम अर्थ तो विवक्षित नहीं है। द्वितीय अर्थानुसार यदि बुद्धि न कहते तो सब कार्यों का विलय कथित होता जिससे लक्षण प्रलय में भी चला जाता। वैसा न हो अतः बुद्धि का जो कारण है वह ही बुद्धिसंस्कारयुक्त हुआ रहे ताकि पुनः बुद्धि उत्पन्न कर सके। इस तरह मूलोक्त लक्षण संगत है।

प्राज्ञः

(तदुभयाभिमान्यात्मा प्राज्ञः।)

सम्प्रति अव्याकृताभिमानिनाऽन्तर्यामिणा सहैकत्वं सुषुप्त्यभिमानिनः सिद्धवत्कृत्य तद्विषयसंज्ञाविशेषं व्यवहारलघुतायै निवेदयति—तदुभयेति। प्राज्ञ इति—प्रज्ञा चैतन्यं, तत्प्रधानः पुरुषः प्राज्ञशब्दार्थः। तदुपाधिभूतकारणंस्य तत्प्रकाश्यत्वेन उपसर्जनत्वात्।

अव्याकृत में अभिमान रखने वाला अन्तर्यामी और सुषुप्ति में अभिमान रखने वाला जीव अभिन्न हैं यह मानी बात है। सरलता से व्यवहार संभव करने के लिये सुषुप्त्यभिमानी का खास नाम बताया है 'प्राज्ञ'। कारणशरीर और सुषुप्ति अवस्था, दोनों में अभिमान वाला चेतन प्राज्ञ है। प्रज्ञा कहते हैं ज्ञान को, वही जिसमें प्रधान हो उस पुरुष का नाम हुआ प्राज्ञ। अभिमानी तो सोपाधि है अतः उपाधि नहीं चेतन प्रधान है यह निर्णय कैसे ? अभिमानी का उपाधिरूप कारणशरीर तो चेतन से प्रकाशित ही होने वाला है अतः उसकी गौणता निर्णीत है। (जो अपनी सिद्धि के लिये अन्य पर निर्भर हो वह उसका गुणभूत होता है।)

मकारः

(एतत् त्रयं मकारः।)

अव्याकृतं, सुषुप्तिः, उभयोरभिमानी च—इति त्रितयं

मकारान्तर्भूतत्वाद् मिथो न पृथगित्यद्वैतमनुस्मरन्नाह—एतत् त्रयं मकार इति।

कारण शरीर, सुषुप्ति अवस्था और इनमें अभिमानी—ये तीनों 'म' में ही कल्पित हैं, आपस में वस्तुतः अलग नहीं अतः अद्वैत निश्चित है इसलिये कहा कि ये तीनों सिर्फ 'म' यह अक्षर हैं।

प्रमाणोल्लेखः

स्थूलप्रपञ्चात्मनो विराजः, जागरितस्य, तदुभयाभिमानिनो विश्वस्य अकारत्वम्; सूक्ष्मप्रपञ्चात्मनो हिरण्यगर्भस्य, स्वप्नस्य, तदुभयाभिमानिनस्तैजसस्य उकारत्वम्; प्रपञ्चद्वयकारणभूताव्याकृतस्य, सुषुप्तेः, तदुभयाभिमानिनश्च प्राज्ञस्य मकारत्वम्;—इत्युक्तमुपनिषत्प्रामाण्यात् प्रतिपत्तव्यम्।

स्थूल प्रपंचरूप विराट्, जागरितावस्था और दोनों में अभिमानी विश्व तीनों केवल 'अ' हैं; सूक्ष्म प्रपंचरूप हिरण्यगर्भ, स्वप्नावस्था और दोनों में अभिमान रखने वाला तैजस, तीनों केवल 'उ' हैं; स्थूल-सूक्ष्म प्रपंचों का कारण अव्याकृत, सुषुप्ति अवस्था और दोनों में अभिमानी प्राज्ञ, ये तीनों 'म' हैं;—यह जो कहा वह माण्डूक्य आदि उपनिषदों के अनुसार है यह समझ लेना चाहिये। (अर्थात् यह औपनिषद प्रक्रिया है)।

अथापवादः

(अकार उकारे, उकारो मकारे, मकार ओङ्कारे, ओङ्कारोऽहम्येव।)

तथापि त्रयाणामकारादीनां मिथो विभक्तानाम् अवस्थानात् कुतोऽद्वैतं सिद्ध्यति ? इत्याशङ्क्य; अपवादप्रक्रियां प्रकटयति—अकार इति।

अनुभूयमान भेद अध्यात्मादि त्रिविधमात्र और वे अकारादिमात्र हों तो भी अ-उ-म ये आपस में पृथक् तीन रह गये तो अद्वैत कैसे ? इसका जवाब देने के लिये इनका अपवाद करने का तरीका समझाते हैं— 'अ लीन होता है उ में, उ लीन होता है म में, म लीन होता है ॐ में, ॐ लीन होता है 'मैं' में।' (अपवाद अर्थात् स्वतंत्र सत्ता-स्फूर्तिकता नहीं है यह निश्चय।)

भूतपर्यन्तं लयः

अस्यार्थः—स्थूलभूतकार्यं समष्टिव्यष्ट्यात्मकम् अधिदैवतादिभेद-भिन्नं दृश्यं सर्वं स्थूलभूतात्मना प्रलीयते। तानि च स्थूलानि भूतानि पञ्चीकृतानि अवस्थाभिमानिसहितानि अकारात्मकानि अपञ्चीकृतभूतेषु विलीयन्ते। तत्कार्यं च सप्तदशकं लिङ्गम् आरम्भणाधिकरणन्यायेन तन्मात्रतां प्रतिपद्यते।

अधिदैव-अध्यात्म-अधिभूत हिस्सों में बँटा सारा दृश्य चाहे समष्टि रूप हो या व्यष्टिरूप, है स्थूल भूतों का कार्य अतः विचार करें तो निश्चय हो जाता है कि स्थूल भूतों से अन्य वह कुछ नहीं है क्योंकि बादरायणमुनि ने निर्णय दिया है कि क्योंकि वेद ने कहा है कि कार्य सिर्फ कहने को है इसलिये कारण से अलग कार्य कुछ है नहीं (ब्र.सू. २.१.१४)। वे पंचीकृत स्थूल भूत, उनकी जागरित अवस्था और अभिमानी विश्व, तीनों अ-शब्द से अभिन्न हैं और विचार करने पर वे अपने कारणरूप अपंचीकृत भूतों से अलग कुछ नहीं हैं। सूक्ष्म भूतों से बना सत्रह अवयवों वाला लिंग शरीर भी अपंचीकृत भूतों से अलग नहीं। सर्वत्र नियम वही है जो बादरायण जी ने बताया।

भूतलयः

तानि च अपञ्चीकृतानि सूक्ष्मभूतानि अवस्थाभिमानिसहितानि उकारात्मकानि संभूतिवैपरीत्येन प्रलयं प्रतिपद्यन्ते। तत्र—पृथिवी

गन्धतन्मात्रात्मिका रसतन्मात्रात्मिकास्वप्सु, ताश्चापो रूपतन्मात्रे तेजसि, तत्तेजः स्पर्शतन्मात्रे वायौ, स च वायुः शब्दतन्मात्रे नभसि, तच्च अविद्यासहाये सच्छब्दिते ब्रह्मणि अव्यक्ते, तच्च अव्यक्तम् अवस्थाभिमानिभ्यां सहितं मकारात्मकं कार्यकारणविभागविकले निष्कले परिशुद्धे ब्रह्मणि ओङ्कारलक्षिते विलीयते। न तस्मात्परं किञ्चिदस्ति।

स्वप्नावस्था और अभिमानी तैजस समेत अपंचीकृत भूत, जिन्हें 'उ' से एक बताया था, उत्पत्तिकी अपेक्षा उलटे क्रम से विलीन होते हैं– गंधतन्मात्र रूप पृथ्वी रसतन्मात्र जल में लीन होती है। (तन्मात्र=स्थूलावस्थ पृथिव्यादि के प्रति कारण।) लीन होने का अर्थ पूर्वोक्त नीति से यह समझ आ जाना ही है कि जल से अलग पृथ्वी कुछ नहीं। जल का विलय रूपतन्मात्र तेज में, तेजका स्पर्शतन्मात्र वायु में, वायु का शब्दतन्मात्र आकाश में, –यों सभी भूत आकाशमात्र रह जाते हैं। आकाश का विलय होता है 'सत्' नामक अव्यक्त अर्थात् मायाशक्तियुक्त ब्रह्म में। अव्यक्त अर्थात् साभास अज्ञान या कारण शरीर, सुषुप्ति अवस्था और अभिमानी प्राज्ञ सहित–जो केवल 'म' रूप बताया था–ओंकार के द्वारा लक्षित निरुपाधि ब्रह्म में विलीन होता है। वह ब्रह्म कार्यकारणभाव से रहित है, निरंश है अर्थात् उपाधिसंपर्करहित है। उससे परे–अर्थात् उसका अधिष्ठान–कुछ नहीं है क्योंकि वही सन्मात्र चिद्धातु है। (मूल के अकारादि अपने-अपने समस्त विस्तारों सहित विवक्षित हैं। मकार तक वाच्य अभिप्रेत है तथा ॐ यह वाक्य भी है जिसके घटक पद अ-उ-म हैं। वाक्य अखण्डशब्द माना गया है अतः पद उसमें कल्पित ही माने जा सकते हैं ऐसे ही वाक्यार्थ में पदार्थ कल्पित होते हैं। पदों से वाक्य 'बनता' नहीं, पदार्थों से वाक्यार्थ भी बनता नहीं। अ-उ-म का समानाधिकरण अन्वय है और उपाध्यंशका बाधतः तथा उपहितांश की मुख्य अभेद वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ को लक्ष्यमाण स्वीकारा जाता है। अतः 'ओंकारे' की टीकाव्याख्या है 'ओंकारलक्षिते'।

मूल में 'ओंकारोऽहम्येव' कहा है जिसका अर्थ है कि बाकी सब का प्रविलापन जिससे हुआ उस ॐ शब्द तथा ओमर्थताविशिष्ट को निज स्वरूप में विलीन करना चाहिये जिस स्वरूप को आगे 'अहमात्मा' आदि से कहना है। कुछ विद्वान् 'ओङ्कारोऽहमेव' पाठ का आदर करते हैं जिसमें अर्थ स्पष्ट है कि वक्ष्यमाण स्वरूप वाला चिन्मात्र ही ॐ-वाक्य का अर्थ है। आनंदगिरिटीका में प्रतीकोल्लेख न होने से निश्चित कहना कठिन है लेकिन 'मकारात्मकम्...ओंकारलक्षिते' के बाद किसी में ओंकार के विलय की चर्चा न होने से प्रतीत होता है कि वे 'अहमेव' पाठ स्वीकार रहे हैं।)

विलये प्रमाणम्

उक्तं हि—'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे ! पृथिव्यप्सु प्रलीयते। आपस्तेजसि लीयन्ते तेजो वायौ विलीयते।। वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते। अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् ! निष्कले सम्प्रलीयते।। पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः।।' इति।

विष्णुपुराणादि में कहा भी है—'सब जिस पर स्थित रहते हैं वह पृथ्वी जल में प्रलीन होती है, जल तेज में और तेज वायु में विलीन होता है। वायु का विलय आकाश में तथा उसका अव्यक्त में लय होता है। अव्यक्त निरवयव पुरुष में भली-भाँति प्रलीन हो जाता है। पुरुष से परे कुछ नहीं है, वह सीमा है, वही अंतिम अधिष्ठान है।' इस तरह पुर्वोक्त प्रक्रिया प्रामाणिक ठहरती है।

संमाधिः

(आत्मा साक्षी केवलश्चिन्मात्रस्वरूपः। नाज्ञानं नापि तत्कार्यं, किन्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं परमानन्दाद्वयं प्रत्यग्भूतचैतन्यं ब्रह्मैवाहमस्मीत्यभेदेन अवस्थानं समाधिः।)

(टीकानुसार° ाद्वयं ब्रह्मैवाहमस्म्यहं ब्रह्मास्मीत्य°—ऐसा पाठ प्रतीत होता है।)

मूल में बताया कि ॐ का वास्तविक अर्थ वह 'मैं' है जो सिर्फ आत्मा है, अंहमाकार वृत्ति से सीमित नहीं है। आत्मा साक्षी है, केवल है, उसका निज रूप सिर्फ चित् (ज्ञान) है। आगे समाधि का स्वरूप समझाया : इसी अकम्प निश्चय वाला रहना समाधि है कि मैं अज्ञान या उसका कार्य नहीं हूँ वरन् सनातन, निरविद्य, ज्ञानरूप, निरुपाधि, अबाध्य प्रकृति वाला हूँ, ऐसा निर्भेद हूँ जो निःसीम आनंद है, कभी विषय न होने वाला बोध हूँ, ब्रह्म ही हूँ।

इसे टीका में और स्पष्ट करेंगे।

प्रत्यगात्मा

अकारादीनां पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरस्मिन्ननुप्रवेशेन प्रत्यगात्मनि पर्यवसितत्वेऽपि, प्रत्यगात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहङ्काराव्याकृतानां मध्ये कतमः स्याद् ? इत्याशङ्क्याह—अहमात्मेति। **देहस्तावदनात्मा—दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वाद्, आद्यन्तवत्त्वाच्च घटवत्। तथा इन्द्रियादीनाम् अव्याकृतपर्यन्तानाम् अनात्मत्वमवधेयम्। न च प्रतीचो देहादिसाक्षिणो जाड्यमुपपद्यते, जडत्वे घटादिवद् अनात्मत्वप्रसङ्गात्। तस्मादज्ञानं साभासमव्याकृतशब्दितं, तत्कार्यं देहादि अनात्मत्वेन प्रतिपत्तव्यम्। तद्व्यतिरिक्तश्चात्मा तदुभयसाक्षी चिद्धातुरेव द्रष्टव्य इत्यर्थः।** केवलशब्देन **चितो विषयनिरपेक्षत्वं विवक्ष्यते।** चिन्मात्रशब्देन **आत्मनो द्रव्यबोधरूपत्वं परेष्टं प्रत्याचष्टे**—चिन्मात्रेति।

'अ' आदि पिछले का 'उ' आदि अगले में प्रविलापन करने से प्रत्यगात्मा बचा यह कहा। पुनः शंका होती है कि शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि, प्राण, अहंकार, अव्याकृत में से प्रत्यगात्मा है कौन ? समाधान किया 'मैं' का स्वरूप बताकर। देह तो दृश्य, जड, सीमित और जन्म-नाश वाला होने से घट की तरह अनात्मा है। इन्द्रियों से अव्याकृत तक जितने पदार्थ कहे वे भी इन्हीं

कारणों से अनात्मा हैं। देहादि की सत्ता-स्फूर्ति में हेतुभूत विषय तया अप्रतीयमान ज्ञान जड तो हो नहीं सकता। यदि वह जड हो तो घटादि की तरह अनात्मा होगा (जिससे उसे विषयतया प्रतीत होना चाहिये जो वह होता नहीं) इसलिये आभास सहित अज्ञान और उसके देहादि कार्य अनात्मा हैं यही निर्णय रखना चाहिये। इनसे निरपेक्ष, इन दोनों का, कार्य-कारण का, साक्षी एकरस चेतन ही आत्मा समझना चाहिये। आत्मा को केवल कहा जिसका अर्थ है कि वह ऐसा ज्ञान है जो किसी विषय के होने न होने पर बिना निर्भर किये बना रहता है। आत्मा का स्वरूप 'सिर्फ चित्' कहा ताकि कुछ विचारकों की इस मान्यता का निरास हो जाये कि आत्मा जड-चेतन उभयात्मक है या ज्ञानभिन्न होकर ज्ञानगुणक है।

नित्यादिरूपः

एवम् अज्ञानतत्कार्यस्पर्शशून्यश्चिदात्मा परिशुद्धः त्वम्पदार्थः तत्पदार्थाद् ब्रह्मणोऽर्थान्तरं किं न स्याद्? इति मन्वानः सन्नाह—किन्त्विति। तत्पदार्थपरिशोधनपूर्वकं परिशोधितं त्वम्पदार्थमनूद्य तस्य ब्रह्मत्वं वाक्यार्थं कथयति—नित्येत्यादिना। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठ. २.१२) इति श्रुतिस्मृती समाश्रित्य कार्यैक्यं ब्रह्मणो नित्यत्वविशेषणेन निरस्यति। 'शुद्धमपापविद्धम्' (ई. ८) इत्यादिश्रुतिवाक्यावष्टम्भेन कार्यतादात्म्यवैधुर्यं ब्रह्मणः शुद्धविशेषणेनोच्यते। 'प्रज्ञानघनः' (बृ.४.५.१३) इति श्रुतिमाश्रित्य नित्यविज्ञप्तिरूपतां ब्रुवाणो बुद्धविशेषणेन कारणैक्यं ब्रह्मणो निषेधति। 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (कठ. ५.१) इति श्रुतिमनुसृत्य अविद्याकामकर्मपारतन्त्र्यापाकरणेन कारणतादात्म्यं ब्रह्मणो मुक्तपदेन प्रत्याचष्टे। ऐक्यतादात्म्ययोश्च भेदाऽसहत्वभेदसहत्वाभ्यां भेदः।

विचार होता है कि अविद्या और उसके कार्य से असंबद्ध, सब दोषों से रहित चेतनरूप आत्मा जो त्वम्-शब्द का निष्कृष्ट अर्थ है वह तत्-शब्द

के अर्थरूप ब्रह्म से पृथक् क्यों न हो ? इसलिये तत्-शब्दार्थ का भी विवक्षित अर्थ कहते हुए निष्कृष्ट त्वंशब्दार्थ का उल्लेख कर बताते हैं कि त्वंशब्दार्थ ब्रह्म है। यह महावाक्य का अर्थ है। ब्रह्म 'नित्य' है अर्थात् कार्य प्रपंच से एक नहीं है। श्रुति व स्मृति में बताया है कि आत्मा आकाश की तरह व्यापक और नित्य है, जन्म रहित, नित्य, सनातन और प्राचीन है। 'शुद्ध' कहकर व्यक्त किया कि ब्रह्म का कार्यप्रपंच से तादात्म्य भी नहीं है। वेद में बताया है कि ब्रह्म शुद्ध है, पाप से बिंधा नहीं है। 'बुद्ध' शब्द से स्पष्ट किया कि ब्रह्म कारणभूत अज्ञान से एक नहीं है। वह तो हमेशा एकसी रहने वाली अपरोक्ष अनुभूति है, वह अज्ञानात्मक कैसे होगा! वेद ने घोषित किया है कि ब्रह्म निरवकाश विलक्षण ज्ञान ही है। 'मुक्त' से समझाया कि ब्रह्म अविद्या कामना या कर्म के अधीन नहीं अतः उसका कारणरूप अज्ञान से तादात्म्य भी नहीं है। श्रुति ने कहा ही है कि मुक्त होने वाला आत्मा वही है जो हमेशा मुक्त है ! कार्य-कारण से ऐक्य व तादात्म्य का निषेध किया; ऐक्य अर्थात् जहाँ भेद सह्य न हो और तादात्म्य जहाँ भेद सह्य हो जैसे घट कलश का ऐक्य है जबकि घट व रूप में तादात्म्य है।

सत्यः

ननु ब्रह्मणो यथोक्तस्य प्रपञ्चस्येव यथाकथंचिद् बाध्यत्वप्रसिद्धौ न प्रेप्सितत्वं परिकल्पते। न हि ब्रह्म प्रपंचाद् भिन्नम्, अब्रह्मत्वप्रसंगात्! अभेदे च तद्बाध्यत्वमभ्युपेयताम्। अतः कथं तदभिन्नं ब्रह्म अबाध्यमभ्युपेयम् ? इत्याशंक्य; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. २.१.३), 'सत्यस्य सत्यम्' (बृ २.१.२०) इत्यादिश्रुतिमनुसन्दधानः समाधत्ते—सत्येति।

प्रश्न उठता है : ब्रह्म प्रपंच से भिन्न तो होगा नहीं अन्यथा परिच्छिन्न होने से ब्रह्म ही नहीं रहेगा ! जब वह प्रपंच से अभिन्न है तब उसे प्रपंच की तरह बाध्य ही मानना होगा। चाहे प्रपंच रूप से ही सही, ब्रह्म बाध्य

है तो प्राप्तव्य नहीं हो सकता। अतः उसे अबाध्य कैसे समझें ? उत्तर है कि वह सत्य है, बाध के अयोग्य है। वेद ने सुस्पष्ट किया है कि लोकसिद्ध सत्य का अधिष्ठान जो अनन्त ज्ञान है वही पारमार्थिक सत्य है, ब्रह्म है। अतः प्रपंचातीत ब्रह्म प्राप्तव्य है। प्रपंचरूप न होने पर भी वह परिच्छिन्न नहीं क्योंकि उसी पर प्रपंच कल्पित है।

परमानन्दाद्वयः

तथापि न तस्मिन् प्रेप्सया प्रवर्तेत, पुरुषार्थत्वाभावाद् ? इत्याशंक्य; 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ. ३.७.२८), 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै. ३.६.१) इत्यादि श्रुतिमनुरुध्य ब्रूते—परमानन्देति। **ब्रह्मानन्दस्य क्षयिष्णुत्वसातिशयत्वनिरासार्थं** परमेति **विशेषणम्। किं च यथोक्तं ब्रह्म द्वैताभावोपलक्षितम् इष्यते; अस्थूलादिश्रुतेः, स्वतः प्रमाणत्वात्। वस्तुतश्च प्रपंचाभावाद् भेदाभेदवाचोयुक्तेरयुक्तत्वाद् इत्यभिप्रायेण आह**—अद्वयमिति।

सत्य के साथ ब्रह्म आनंद भी है जिससे वह सब द्वारा प्राप्तव्य है। ब्रह्म की आनंदरूपता न केवल प्रतिज्ञात है वरन् भृगु आदि के अनुभव से सत्यापित भी है। ब्रह्म को परम-आनंद कहते हैं ताकि ब्रह्मरूप आनंद क्षीण हो सकता है या उससे अधिक कोई आनंद हो सकता है यह न समझा जाये। इतना ही नहीं, नाम-रूप आदि द्वैत के न होने से ब्रह्म उपलक्षित अंगीकार्य है अर्थात् प्राप्तव्य ब्रह्म का उपलक्षण है द्वैतका न होना। इसमें वे वचन प्रमाण है जो ब्रह्मको स्थूलतादि से वर्जित बताते हैं। संसार में चाहे जितना 'अकेला' कुछ सिद्ध हो, उसके साधक प्रमाण की सहितता रहती ही है जैसे शुद्धतम रूप भी प्रकाशसहित ही दीखता है। अतः ब्रह्म सर्वथा अद्वितीय नहीं हो सकता, कम-से-कम उसका साधक प्रमाण तो उसे सद्वितीय बनाता होगा , इस शंका के समाधान में समझ लेना चाहिये कि ब्रह्म स्वयं ही स्वयं में प्रमाण है, स्वयंप्रकाश है। अतः साधकमाननिरपेक्ष होने से वह अत्यन्त अद्वय है।

वास्तव में तो प्रपंच है ही नहीं अतः यह विचार बेमानी है कि ब्रह्म का प्रपंच से भेद या अभेद है। इसलिये उसका अद्वैत वास्तविक है।

अत्यन्ताभेदः

परिशोधितं तत्पदार्थमनूद्य तस्य परिशोधितेन त्वम्पदार्थेन सहैक्यं वाक्यार्थं कथयति—ब्रह्मैवेति। **एवकारः तादात्म्याङ्गीकारप्रयुक्तभेद-निरासार्थम्। तत्पदार्थमनूद्य तस्य त्वंपदार्थत्वं विधाय, त्वमर्थमनूद्य तस्य तत्पदार्थत्वं विदधाति**—अहं ब्रह्मास्मीति।

निरुपाधिक तत्शब्दार्थ ईश्वर और निरुपाधिक त्वंशब्दार्थ जीव की एकता महावाक्य का अर्थ है जिसे मूल में 'ब्रह्म ही मैं हूँ' से व्यक्त किया। 'ही' से वह भेद मना किया गया है जो जीव-ब्रह्म में तादात्म्य मानने वालों द्वारा स्वीकारा जाता है। 'ब्रह्मैवाहमस्मि' को ही 'अहमेव ब्रह्मास्मि' यों भी पढ़ लेना चाहिये। प्रथम विन्यास द्वारा तत्पदार्थ का अनुवाद कर उसकी त्वंपदार्थता का विधान हो जाता है अर्थात् ब्रह्म जीव है बताया जाता है और द्वितीय विन्यास द्वारा त्वम्पदार्थ का अनुवाद कर उसकी तत्पदार्थता का विधान हो जाता है अर्थात् जीव ब्रह्म बताया जाता है। यों अत्यन्त अभेद स्पष्ट हो जाता है।

द्विविधः समाधिः

अथ जीवब्रह्मणोर्मिथो व्यतिहारेण एकरसस्वरूपवाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थं साधनभूतं समाधिं संगिरते—इत्यभेदेनावस्थानं समाधिरिति। **पूर्वोक्तयुक्त्या प्रणवस्वरूपार्थानुसन्धानपुरःसरम् एकरसवस्तुमात्रत्वेन चित्तस्य तदाकारवृत्त्यवशेषाऽवस्थानं सम्प्रज्ञातसमाधिः इत्युच्यते। उक्तं हि 'ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना। सम्प्रज्ञातसमाधिः स्याद् ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः।।' इति।**

वृत्तिमपि तन्मात्रत्वेनोपसंहृत्य वृत्तिमतः चित्तस्य प्रयत्नपूर्वकं वस्तुमात्रत्वेनावस्थानम् असम्प्रज्ञातसमाधिः इति गीयते। उक्तं च 'मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः। याऽसम्प्रज्ञातनामाऽसौ समाधिरभिधीयते।।' इति।। अस्य च प्रयत्नपूर्वकत्वादेव सुषुप्तितो विशेषसिद्धिः सुषुप्तौ तु कारणात्मना चित्तस्यावस्थानमास्थितम्, इदं तु कार्यकारणसम्बन्धविधुरवस्तुमात्रत्वेन तस्य पर्यवस्थानमिष्यते। तद्वासनाविशेषाभ्युपगमाच्चास्य साधनपक्षपात इति भावः।

जीव ब्रह्म है, ब्रह्म जीव है—यों उलट-पलट कर दोनों की जो सर्वथा अभिन्नता बतायी उसे सही तरह समझने का उपाय समाधि है। पूर्वदर्शित रीति से ॐ के स्वरूपभूत अर्थ का विचार कर चित्त की सिर्फ एक वृत्ति बनाकर रखी जाये जिसमें वह परमार्थ अद्वैत व्यक्त हो तो उस स्थिति को संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। बताया भी है कि अहंकारार्थ का उल्लेख बिना हुए मन ब्रह्म के आकार की वृत्तियाँ लगातार बनाता जाये तो सम्प्रज्ञात नामक समाधि होती है जो अत्यधिक ध्यानका अभ्यास करने से प्राप्त होती है।

जब वृत्तिको भी स्फुरमाण ब्रह्म से अलग न समझा जाये और कोशिश कर वृत्ति वाले चित्त को भी ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ न जाना जाये तब समाधि को असम्प्रज्ञात कहा जाता है। यह अन्यत्र भी कहा है कि वृत्तिरहित मन का ब्रह्म के आकार में रहना असम्प्रज्ञात समाधि है। क्योंकि इसमें कोशिश से स्थिति बनती है इसलिये यह सुषुप्ति से विलक्षण है। गहरी नींद में तो चित्त कारण रूप से रहता है जब कि यह चित्त की वैसी विद्यमानता है जिसमें वह उस वस्तु से अलग हुआ नहीं रहता जो कार्य-कारणसंबंध से रहित है। क्योंकि इस समाधि से चित्त में ब्रह्मसंस्कार बढ़ते हैं इसलिये इसे साधन-कोटि में स्वीकारते हैं।

प्रमाणम्

('तत्त्वमसि', 'ब्रह्माहमस्मि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभ्यः। इति पञ्चीकरणं भवति । ॐ।।)

जीवब्रह्मणोरैक्ये श्रुतिं प्रमाणयति—अयमात्मा ब्रह्मेति। **अत्र च ब्रह्मात्मपदयोः सामानाधिकरण्यं, पदार्थयोः विशेषणविशेष्यत्वं, ततो विरोधस्फूर्तौ पदार्थस्य निष्कृष्टस्य वस्तुमात्रेण लक्षणया सम्बन्धः, ततश्चाऽखण्डैकरसवाक्यार्थप्रतिपत्तिः। न चैकार्थत्वे पदभेदानुपपत्तिः, व्यावर्त्यभेदादर्थवत्त्वसिद्धेरिति द्रष्टव्यम्। आदि-पदेन तत्त्वमस्यादिमहावाक्यानि, तत्त्वं-पदार्थविषयाणि च अवान्तरवाक्यानि ब्रह्मात्मैकरसत्वे पर्यवसितानि ग्रहीतव्यानि।**

अद्वैत में प्रमाण है महावाक्य जैसे सामवेद का 'वह तू है', यजुर्वेद का 'मैं ब्रह्म हूँ' ऋग्वेद का 'प्रज्ञानादि अनुभव करने वाला जीव ब्रह्म है', अथर्व वेद का 'यह साक्षात् भासमान आत्मा ब्रह्म है' इत्यादि। (टीकानुसार मूल में केवल माण्डूक्योक्त आथर्वण वाक्य का उल्लेख है जो इसलिये संगत है कि उसी उपनिषत् में प्रणव का अनुसरण किया गया है।) मूलकार ने इतना बताकर पंचीकरण प्रकरण उपसंहृत कर दिया है।

जीव ईश्वर के अभेद में वेद प्रमाण है जो कहता है कि यह साक्षात् होता आत्मा ही ईश्वर है। जीवेश्वराभेदबोधकवाक्य महान् तात्पर्य वाले अतः महावाक्य कहलाते हैं। इनमें जीव और ईश्वर दो पदार्थों का उल्लेख कर उनका अभेद व्यक्त किया जाता है। ईश्वरवाचक और जीववाचक पद समान विभक्ति में होने से इन वाक्यों में उभयवाचक पदों का आपसी संबंध सामानाधिकरण्य कहलाता है। दोनों वाच्य अर्थ आपस में विशेषण-विशेष्य बनकर सम्बद्ध होते हैं अर्थात् आपसी भेद की व्यावृत्ति करते हैं। भेदनिषेध से अभेद प्रतीत होने पर लगता है कि कही बात गलत है क्योंकि

परिच्छिन्न जीव व्यापक ईश्वर नहीं हो सकता। किंतु वेदवाक्य गलत बात नहीं बतायेगा अतः निश्चय ही वेद का अभिप्रेतार्थ समझना जरूरी है। जहाँ वाच्यार्थ से असंगत वाक्यार्थ निकले वहाँ लक्ष्यार्थ ग्रहण करना लौकिक रीति है। श्रुतिको अभिप्रेत अर्थ शब्द से हम समझें इसके लिये हम विचारपूर्वक जो अर्थनिर्धारण करते हैं वही शब्द की लक्षणा वृत्ति है। प्रकृत में प्रथमतः उपाधियुक्त जीव ईश्वर प्रतीत होते हैं लेकिन विवक्षितार्थबोधक वाक्यान्तरों की आलोचना से पता चलता है कि जीव-ईश्वरबोधक पदों का जो निचोड़भूत अर्थ यहाँ अभिप्रेत है वह उपाधि छोड़ा हुआ चेतन है। उन अर्थों का वाक्यार्थरूप अद्वैत वस्तु से लक्षणा द्वारा संबंध होता है। (वाक्यार्थ का पदार्थों से सम्बंध होता है जिसके सहारे पद वाक्यार्थ का ज्ञान करा देते हैं अतः पद लक्षणा से वाक्यार्थ-बोधक होते हैं। वाक्यार्थ-बोध में अनुकूल होना ही पदार्थों का वाक्यार्थ से लक्षणानामक सम्बन्ध है।) लक्षणा से वाक्यार्थ समझ आने पर निष्प्रकारक, निर्विशेष वाक्यार्थ की स्फूर्ति हो जाती है। (वाक्यार्थ के इस क्रमको नैष्कर्म्यसिद्धि, संक्षेपशारीरक, पंचप्रक्रिया आदि से स्पष्ट कर लेना उपयोगी होगा।) प्रश्न होगा कि महावाक्य में आये जीव-बोधक और ईश्वर-बोधक पद यदि एक ही अर्थ के प्रकाशनार्थ हैं तो पर्यायवाची होने से उनका एक ही वाक्य में इकट्ठे प्रयोग क्यों ? उत्तर है कि एक ही अर्थ के बारे में अलग-अलग गलत फहमियाँ हैं जिन्हें हटाने के उपयोग से वे अलग-अलग शब्द रखे हैं। अभिप्रेतार्थ एक होने पर भी उक्त प्रयोजन के साधक होने से वे पर्यायवाची नहीं हैं। एवं च चेतन की परोक्षता का भ्रम मिटाने के लिये जीवबोधक तथा परिच्छिन्नता का भ्रम मिटाने के लिये ईश्वर-बोधक शब्द महावाक्यों में आये हैं। मूल में जो 'इत्यादि' कहा उससे 'तत्त्वमसि' आदि सभी महावाक्य और अवान्तरवाक्य समझ लेने चाहिये। तत् या त्वम् पदार्थों का खुलासा करने वाले—जीवब्रह्मैक्य बिना बताये सिर्फ जीव या ब्रह्म के बारे में समझाने वाले—वाक्य अवांतर वाक्य होते हैं।

उदाहरणार्थ तत्पद के वाच्यार्थ को बताने वाले 'यतो वा इमानि भूतानि' आदि एवं लक्ष्य को कहने वाले 'सत्यं ज्ञानम्' आदि अवान्तर वाक्य हैं। इसी तरह त्वम्पद के वाच्यबोधक 'तद्यथा महामत्स्यः...उभावन्तावनुसंचरति' आदि तथा लक्ष्य-बोधक 'हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः, न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' आदि अवातरवाक्य हैं। चाहे अवांतर हों या महान्, दोनों का चरम तात्पर्य है, ईश्वर से जीव के आत्यन्तिक अभेद में। ऐसे ही वाक्य यहाँ 'आदि' शब्द से लेने चाहिये, इनसे विरुद्ध नहीं।

उपसंहारः

तदेवम् अधिकारिणो वाक्याद् ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारसमुत्पत्तौ, अज्ञानतत्कार्यनिवृत्तौ, अनारब्धफलपूर्वोपार्जितकर्मदहनात्, उत्तरकालीन-कर्मणश्च अश्लेषात्, आरब्धफलकर्मणश्च भोगेनैव क्षयात्, तदवस्थितिप्रयुक्तदेहावभासजगदवभासनिवृत्तौ, तदात्मना तत्कारण-कर्मात्मनाऽवस्थिताविद्याऽभावात्, तत्कार्यनिवृत्तेश्च वस्तुस्वरूपेणैव परिशेषात्, प्रत्यगात्मा सच्चिदानन्दात्मकः सत्यज्ञानानन्तानन्दस्वरूपं ब्रह्मैवेति सिद्धम्।

इस प्रकार इस ग्रंथ में यह सब निश्चित किया गया है—मोक्षोपयोगी ज्ञान का शास्त्रोक्त अधिकारी होता है जिसे महावाक्य-श्रवणकर जीवेश्वराभेद का अपरोक्ष निश्चय हो जाता है क्योंकि शब्द भी अपरोक्षका सक्षम उपाय है। इस साक्षात्कार से अज्ञान और उसका कार्य बाधित हो जाते हैं अर्थात् यह निर्धारित रहता है कि वे हैं नहीं। पूर्वकृत जिन कर्मों ने फल देना प्रारंभ नहीं किया वे तो इस तत्त्वनिश्चय से मानो जल जाते हैं और तत्त्वधी के बाद जो कर्म किये हुए प्रतीत होते हैं उनका आत्मा से कोई संबंध हुआ नहीं करता—कारण कि कर्म-आत्मा का कर्तृताभिमानरूप ही सम्बन्ध है जो अध्यास ही है अतः तत्त्वज्ञान से हट चुकता है—इसलिये उक्त दोनों तरह के कर्म फलप्रद नहीं रहते। जिन कर्मों ने वर्तमान शरीर का निर्माण कर

फलदान आरंभ कर दिया है उनके फल भोगने से वे कर्म समाप्त हो ही जाते हैं। जब तक उनका फल भोगा जाये तब तक अप्रतिबद्ध तत्त्वनिष्ठ को जीवन्मुक्त कहा जाता है। देहोत्पादक कर्म रहते ही देह और जगत् का अवभास (प्रतीति) रहा करता है। जब वह कर्म भोग कर समाप्त हो जाये तब वह अवभास भी मिट जाता है। तत्त्वज्ञान के बाद शरीर और उसके संचालक प्रारब्ध कर्म के रूप में ही अविद्याप्रतीति बची थी, अब उन दोनों रूपों में भी वह रह नहीं जाती क्योंकि बाधित अविद्याकी प्रतीति रूप अविद्यालेश का अब कोई उपयोग रह नहीं जाता। जो प्रारंभ में अधिकारी था वह इस दशा में केवल ब्रह्मवस्तु रह जाता है। अतः निश्चित है कि जो हमें अपना विषयविलक्षण 'मैं' यों स्वरूप भासता है वह स्वभावतः सच्चिदानंद है, ब्रह्म ही है जो अबाध्य, चेतन, निःसीम, सुख स्वरूप है।

अन्त्यमङ्गलम्

षड्विधं लिङ्गमाश्रित्य वेदान्ता यत्र निष्ठिताः।
विधानप्रतिषेधाभ्यां तं वन्दे पुरुषोत्तमम्।।

।। इति श्रीमदानन्दगिर्याचार्यविरचितं पञ्चीकरणविवरणं सम्पूर्णम्।।

विचारकों ने छह तरह के चिह्न बताये हैं जिनसे निश्चित होता है कि उपनिषदों का तात्पर्य अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म है। वे चिह्न हैं—(१) प्रतिपादन का प्रारंभ जिस अर्थ के बोधन से हो, समापन भी उसी के बारे में बातने से हो। (२) प्रतिपादन के दौरान बार-बार उस अर्थ का उल्लेख कर कुछ खुलासा किया जाये, उसका कथन अन्य प्रयोजन से न हो। (३) वह अर्थ उस प्रतिपादन से निरपेक्ष किसी प्रमाण का विषय न हो। (४) उस अर्थ की जानकारी प्रयोजन सिद्ध करे। (५) उसकी प्रशंसा हो, उससे विपरीत की निंदा हो और उसे समझाने मात्र के उद्देश्य से ऐसा कुछ बताया जाये जिसका स्वयं में कोई अन्य उपयोग न हो। (६) उस अर्थ को तर्क व अनुभव

से संगत किया जाये। इन छह से पता चलता है कि उपनिषत् तात्पर्यतः जिसे समझाती हैं वह उत्तम पुरुष अर्थात् सर्वोपाधिविनिर्मुक्त प्रत्यङ्मात्र है। औपाधिक आत्मरूपों का निषेधमात्र कर उपनिषत् अद्वैतका उपदेश देती है क्योंकि स्वप्रकाश तत्त्व की ग़लतफ़हमी ही हटाना ज़रूरी होता है 'उसे' बताना नहीं, कारण कि वह बताये बिना ही सदा भासता है और 'उसे' बताया जाये तो यह मुग़ालता लग सकता है कि वह शब्द से बोध्य अतः परिच्छिन्न है। किंतु केवल निषेध से बताने पर कदाचित् प्रतीत हो सकता है कि निःस्वरूप की चर्चा है ! इसलिये पूर्ण सावधानी बरतते हुए उपनिषत् ने महावाक्यादि में भावरूप से भी उस परमार्थ का प्रकाशन कर दिया ताकि शून्य जैसा कुछ न समझ लिया जाये। दोनों ढंगों से सब भ्रम मिट जाते हैं। यों बताये पुरुषोत्तम की मैं वन्दना करता हूँ। अभेदानुसंधान ही मुख्य वन्दना है।

इस प्रकार श्रीमच्छंकराचार्यकृत पंचीकरण एवं श्रीमान् आनंदगिरिस्वामिकृत उसका विवरण पूरा हुआ।

वृषस्यन्त्याः पराविद्यामहाधेनोः शमक्षमः।
पुंगवध्वजपुंरूपः श्रीमदाचार्यपुंगवः।।
वेदान्तानवगन्तुं ये ह्यर्था आवश्यका मताः।
कृपयैकत्र तान् कृत्वाऽऽनन्दज्ञानोऽजयन्मुनिः।।

ॐ

■■■

ॐ

वार्त्तिकश्लोकसूची